में एक-सा स्पन्दन और दोनों की आह में एक-सा दर्द है। इस परिवार का जीवन आदर्श हिन्दू-गृहस्थ का जीवन है। उसमें इस जीवन के अनेक सफल चित्र हैं—पति पत्नी हैं, पिता है, पुत्र पुत्रियाँ हैं, माताएँ हैं, विमाता हैं, देवर-भाभी हैं, सासें और पुत्र वधुएँ हैं, स्वामी और सेवक हैं; परन्तु विभिन्न व्यष्टियों से बना हुआ यह परिवार एक सम्पूर्ण समष्टि है। यह इसकी क्या सभी सुखी परिवारों की विशेषता है।

एक तरु के विविध सुमनों-से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।
एक भी आँगन नहीं ऐसा यहाँ,
शिशु न करते हों कलित क्रीड़ा जहाँ।
कौन है ऐसा अभागा गृह कहो,
साथ जिसके अश्व-गोशाला न हो।

उपर्युक्त उदाहरण में 'शिशु न करते हों कलित क्रीड़ा जहाँ' और 'साथ जिसके अश्व-गोशाला न हो' इन बातों ने गृहस्थ का बाह्य चित्र पूर्ण कर दिया है।

गृहस्थ जीवन का प्राण है—दाम्पत्य, क्योंकि मनुष्य के भाव कोष पर सबसे व्यापक और गहरा अधिकार उस व्यक्ति का होगा जो सबसे अधिक निकट है! इस दृष्टि से जीवन में काम की प्रमुखता होने के कारण स्त्री-पुरुष का नैकट्य ही सर्वाधिक ठहरता है। उनके लिए मानसिक एकता के साथ शारीरिक एकता भी तो अनिवार्य हो जाती है! मर्यादावादियों ने इस सम्बन्ध को दाम्पत्य में ही सीमित कर दिया है क्योंकि इस एकता का विकास मर्यादाबद्ध होकर ही—अर्थात् विवाह सम्बद्ध होकर ही हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अथवा रति, अथवा शृङ्गार ही मनुष्य जीवन की

प्रमुख भावना है और मन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें रमता रहता है। साकेत के दशरथ-परिवार में पाँच दम्पति हैं—उर्मिला-लक्ष्मण, राम-सीता, भरत-माण्डवी, दशरथ और उनकी तीनों रानियाँ (विशेषकर-कैकेयी), शत्रुघ्न और श्रुतिकीर्ति। उस का प्रधान कार्य ही चौदह वर्ष की दीर्घ अवधि के उपरान्त उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन है। अतः स्वभावतः उसका प्रधान रस शृङ्गार है—और शृङ्गार में भी, जीवन में विरह की विशेषता के कारण, वियोग-पक्ष प्रधान है, परम्परावादी जिसे 'विप्रलम्भी-शृङ्गार' का 'प्रवास' अङ्ग कहेंगे। ऐसे काव्य में दाम्पत्य-जीवन के मधुर चित्र होना स्वाभाविक ही है। पहले दाम्पत्य-जीवन का आदर्श क्या है, यह सुनिये। उर्मिला-लक्ष्मण का पारस्परिक विनोद वार्तालाप हो रहा है। लक्ष्मण पत्नी के गौरव की परिभाषा करते हुए कहते हैं—

'भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त्त भी,
प्रेयसी, किसके सहज-संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग-से।

इन शब्दों में लक्ष्मण ने स्त्रीत्व के चरम महत्व की व्याख्या करदी है। स्त्री का सबसे बड़ा सौन्दर्य यही है कि उसके संसर्ग से जीवन में रस आ जाता है। जगत् के शून्य चित्र रङ्गीन बन जाते हैं। उर्मिला नारी का प्रतिनिधित्व करती हुई पुरुष की महिमा इस प्रकार करती है—

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम;
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें
और निज भव-भार यों हलका करें।

उर्मिला दम्पति-विज्ञान का कितना मधुर व्याख्यान करते है। स्त्री और पुरुष का यह सम्बन्ध अनादि काल से अटूट इसी लिये रहा है कि जीवन में दोनों को एक ऐसे साथी की आवश्यकता का अनुभव होता है जिससे वे अपने सुख-दुख कह सुन सकें। स्त्री में हृदय का प्राधान्य होने के कारण उसको ऐसे पात्र की आवश्यकता अधिक रहती है जिसमें वह अपने तन मन की भावुकता उँड़ेल सके। यह आवश्यकता मानसिक से अधिक शारीरिक है। भावों का व्यक्तीकरण शरीर के स्वास्थ्य के लिये भी तो जरूरी है अन्यथा जीवन भार हो जावे इसीलिये तो उर्मिला कहती है—

और निज भव-भार यों हलका करें।

इन्हीं दम्पति का संयोग-वियोग साकेत का जीवन है प्रारम्भ में दोनों के हास्य-विनोद-द्वारा कवि ने संयोग शृङ्गार का मधुर चित्रण किया है। एक आधुनिक विद्वान ने हास की मूलवृत्ति दर्प बतलाई है—यहाँ वह दर्प प्रेम दर्प है। प्रेमी और प्रेमिका एक-दूसरों को छकाने के निमित्त जिन दर्पोक्तियों का सहारा लेते हैं उनमें एक विशेष प्रकार का मधुर-गर्व है जिसका उद्गम है एक-दूसरे के हृदय पर अपने प्रभुत्व की भावना प्रेम-परिहास करते-करते लक्ष्मण-उर्मिला से कह उठते हैं—

किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।

देखिए, उर्मिला सहमती नहीं—वह कहती है—

दास बनने का बहाना किसलिये
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिये ?

आप चाहे कुछ बन लें, मैं दासी न बनूँगी। कितना मीठा गर्व है। राम और सीता के जीवन में संयोग का आधिक्य रहा—

'वे वन में भी रहे गृही।' उनको शायद रोमांस का भी अधिक अवसर मिला। राम की प्रकृति गम्भीर थी परन्तु मर्यादा-मूर्ति राम सीता के सम्मुख साधारण मनुष्य वन जाते हैं—उनका परिहास अमित प्यार और दुलार से भरा हुआ है! सीता वन के वृक्षों को सींचनी फिर रही हैं। राम उनकी इस प्रकृति सौन्दर्य श्री का पान कर रहे हैं। कुछ देर बाद उनसे रहा न गया—उनके हृदय का रस शब्दों में बिखर ही गया—

हो जाना लता न आप लता संलग्ना,
करतल तक तो तुम हुई नवल-दल-मग्ना
ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुम को!

इतना ही नहीं, उस दिन वातावरण में कुछ अधिक मादकता थी, राम कुछ और आगे बढ़े! सीता ने कुटिया में अनेक प्रकार के फल-फूल लगा रक्खे थे—उनमें सीताफल भी था। राम को आज उसी की विशेष चिन्ता हुई और श्लेष की आड़ में एक परिहास का बाण छोड़ ही तो दिया—

वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा,
मेरा विनोद तो सफल,—हँसी तुम आहा!

दम्पति का सम्बन्ध काफी दूर तक जाता है अतः उनके लिए ऐसा विनोद स्वाभाविक है—नित्यप्रति की बातें हैं। भक्त कवि ने यहाँ कवित्व की रक्षा भक्ति का मूल्य देकर की है। दाम्पत्य के मूल में जैसा कि मैंने अभी कहा, काम की प्रेरणा है—उसी के कारण स्त्री पुरुष की ओर और पुरुष स्त्री की ओर पागल होकर बढ़ता है—यहाँ पागलपन संयत और मर्यादित होकर दाम्पत्य में विकसित होता है! परन्तु उसका जन्म और पोषण सैक्स की भावना द्वारा ही होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। दाम्पत्य-सूत्र में बन्धन से पूर्व के आकर्षण को रसाचार्यों ने

पूर्व-राग कहा है। आकृष्ट होने के उपरान्त सम्बद्ध हो जाने में अधिक सौन्दर्य और स्थिरता है, उसमें कवित्व भी अधिक है। इसीलिए तो लक्ष्मण और राम को पुष्पवाटिका में देख कर उर्मिला और सीता के—

दृग दर्शन-हेतु क्या बढ़े
उन पैरों पर फूल-से चढ़े।

यहाँ उनके अन्तर की नारी पुरुष को देखकर मुग्ध हो जाती है, और सीता कह उठती हैं—

नभ नील अनन्त है अहा!

राम की अनन्त नीलिमा में सीता का मन खो गया और वे विह्वल हो कह उठीं—

उनकी पद-धूलि जो धरूँ
न अहल्या-अपकीर्ति से डरूँ।

इधर उर्मिला का भी आत्मगर्व नष्ट हो गया, और '(वे) हारी पर तुच्छ जीत क्या?' प्रथम-दर्शन के इस चित्र में मनोविज्ञान और काम-शास्त्र दोनों का सुन्दर समावेश है। पहिले रूप-मोह, फिर विकलता (स्पर्श की भी) और अन्त में एक साथ हर्ष-पुलक तीनों का क्रमिक विकास-वैज्ञानिक है। परन्तु गुप्तजी का दृष्टिकोण सर्वथा प्राकृतिक हो, यह बात नहीं। वे मर्यादावादी कवि हैं। उन्होंने इस प्रसङ्ग में सीता और उर्मिला के आदर्श की रक्षा भी की है। उर्मिला धनुष का भीमाकर देखकर धैर्य खो बैठी—

प्रभु चाप न जो चढ़ा सके?

विकलता स्वाभाविक थी, परन्तु सीता का गौरव चमक उठता है—और वे कहती हैं—

चढ़ता उनसे न चाप जो

उठती यह भौंह भी भला
उनके ऊपर तो अचंचला ?

इस आत्म-विश्वास में, इस अभिमान में कितना गौरव है जिसके विना उर्मिला-लक्ष्मण, सीता-राम का प्रेम काम-तृप्ति मात्र ही रह जाता ! स्वयंवर सभा जुड़ी, सीता-उर्मिला आदि भी वहाँ पहुँची। राम-लक्ष्मण उपस्थित थे ही। धनुषयज्ञ आरम्भ हुआ ! राजा सिर मार कर मर गए—

'न रही नाक, पिनाक था डटा।

तव दुखी होकर जनक ने कहा—

'वस वाहुजता विलीन है,
वसुधा वीर-विहीन दीन है।'

सभा में सन्नाटा छा गया—परन्तु

कहता यह वात कौन है ?
सुनता सत्कुल-जात कौन है ?
गरजे प्रिय जो 'नहीं-नहीं'
सरयू, ये हत नेत्र थे वहीं।

"इस समय लक्ष्मण की ओर उर्मिला का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा, लक्ष्मण के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उसके हृदय में घर किया होगा !" यही दाम्पत्य प्रेम वन की जीर्णशीर्ण कुटिया को राजभवन में परिणत कर देते हैं और "मृदु तीक्ष्ण वेदना एक-एक अन्तर की, वन जाती है कल गीति समय के स्वर की।" संयोग रति इतने पर ही समाप्त नहीं होती। मानसिकता का स्थान काव्य में वड़ा ऊँचा है और प्रेम में भी उसका ही महत्व है—परन्तु संयोग में शारीरिकता अनिवार्य है और उसका तिरस्कार करना प्रकृति के नियमों का

उक्त पंक्तियों में कवि ने नारी-हृदय का, अथवा यों कहिए, पत्नी के हृदय का बड़ा सच्चा चित्र अङ्कित कर दिया है! प्रत्येक प्रेमी को यह विश्वास होता है—उसकी सबसे बड़ी साध होती है—कि उसका प्रिय उससे उसके अपने व्यक्तित्व के कारण प्रेम करता है, किसी आनुषङ्गिक कारणवश नहीं! उसकी वेशभूषा या बाह्य प्रसाधन इसका हेतु नहीं, यदि हों भी तो उसे सह्य नहीं। इसीलिए तो उर्मिला कहती है 'क्या वस्त्रालङ्कार मात्र से वे मोहेंगे' इस कथन में एक और ध्वनि है—उर्मिला को अपने यौवन की क्षति पर भी कुछ दुःख है—परन्तु यह दुःख अपने लिए नहीं लक्ष्मण के लिए है। क्योंकि यौवन उसकी अपनी वस्तु नहीं थी—वह तो प्रियतम की धरोहर थी—'एक प्रिय के हेतु उसमें भेंट तू ही लाल' अतः उसे शङ्का है कि कहीं लक्ष्मण को इस कारण निराशा न हो! बस वह अपना वास्तविक स्वरूप ही प्रियतम के सम्मुख रखना चाहती है। 'शूर्पणखा मैं नहीं' में उर्मिला का सुख गर्व, उसकी उभरती हुई ईर्ष्या को दबा कर और पुष्ट हो जाता है। मिलन के समय कवि ने शूर्पणखा का प्रसङ्ग छेड़ कर स्त्री के हृदय को पहिचाना है। अस्तु! उर्मिला सखी से कह ही रही थी—

जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली!
वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली वह!

कि सहसा लक्ष्मण के शब्द सुन पड़ते हैं—

'किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये, अली यह।'

उर्मिला चौंक पड़ी, और

देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी!

'सखी किधर थी' का संकेत अत्यन्त नाटकोपयुक्त है इसमें गार्हस्थ-जीवन का एक मधुर अनुभव निहित है। प्रथम समागम के दिन प्रत्येक नव-परिणीता वधू इसका अनुभव करते है। पति के प्रविष्ट होते ही सखी का तुरन्त भाग जाना इ अवसर पर एक विशेष अर्थ रखता है। इस संयोग में भावनाओं का सागर उमड़ रहा है। ऐसे स्थलों का चित्रण करते सम भावों की संकुलता के कारण प्रायः कवि की अभिव्यञ्जना-शा कुण्ठित हो जाती है। परन्तु मैथिली बाबू दो पंक्तियों में स कह देते हैं—

> लेकर मानों विश्व-विरह उस अन्तःपुर में,
> समा रहा थे एक दूसरे के वे उर में।

भावों के विस्तार का यह चित्र कितना भव्य है। इसी सम

> रोक रही थी उधर मुखर मैना को चेरी—
> 'यह हत हरिणी छोड़ गये क्यों नये अहेरी।'

इन पंक्तियों ने तो चित्र पूर्ण ही कर दिया है। यह ' हरिणी क्यों छोड़ यों ही गये वे'—अब पुरानी बात हो ग विरह का पारावार एक साथ एक पल में सुख की तरङ्गों आलोड़ित हो उठा है।

यही स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध विपत्ति समय जीवन में अवलम्ब बन जाता है। पुरुष की विपत्ति को उसकी व्यथा अ परिताप को समझने और हलका करने में स्त्री से अधिक कौन सहायक हो सकता है? पिता की मृत्यु और राम के गमन से भरत पर शोक का पहाड़ टूट पड़ता है। उनकी नस में ग्लानि का विष व्यापने लगता है। वे संसार को न सकते हैं और न उसे भोग ही सकते हैं। जीवन उनके लिये

कारावास है। ऐसे समय में उनकी व्यथा को उनके दुख-दर्द को समझने वाली एक माण्डवी ही है। माताओं और उर्मिला आदि की करुण कहानी सुन कर भरत के संतप्त हृदय से एक आह निकल जाती है—और वे कह उठते हैं

एक न मैं होता तो भव की क्या असंख्यता घट जाती ?
छाती नहीं फटी यदि मेरी, तो धरती ही फट जाती।

माण्डवी पास ही बैठी हुई है; आदर्श पतिप्राणा रमणी के हृदय में ये शब्द तीर की तरह लगते हैं—और उसका आवेश प्राणों के कूलों को तोड़ कर वह निकलता है—

हाय नाथ धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते।
तो हम दोनों किसी तिमिर में, रह कर कितना सुख पाते॥
न तो देखता कोई हमको, न वह कभी ईर्ष्या करता,
न हम देखते आर्त किसी को, न वह शोक आँसू भरता।

उक्त प्रसङ्ग में हमको महाकवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। साकेत में माण्डवी की स्थिति बड़ी विचित्र है। न तो वह उर्मिला की भाँति वियोगिनी ही है और न सीता अथवा श्रुतिकीर्ति की भाँति संयोगिनी ही। वह ऐसे पति की भार्या है जिसका जीवन गृह-वास और बन-वास का संगम है। जो गृही होकर भी वनवासी है, जिसके जीवन में ग्लानि और परिताप की अग्नि धधक रही है—जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध उस महापराध से है। अतः उसकी जीवन-कहानी सबसे भिन्न है; उसमें अपने पति की गौरव-भावना है, उनके दुख से वह दुखी है। उनकी स्थिति पर उसे असन्तोष है, लोगों की ईर्ष्या उसे सह्य नहीं। उसमें स्त्रियोचित लालसायें हैं; प्रेम की आग है—परन्तु उनकी भावनायें वन्दिनी हैं इसी से तो

पहिले वह भरत के शब्दों को सुन कर तड़प जाती है—फिर उसकी गौरव-भावना जागृत होती है और वह कहती है—

मेरे नाथ जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती,
किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।

सहृदय पाठक तनिक इन शब्दों की अर्थ-गरिमा और भाव-गाम्भीर्य पर विचार करें। इसमें प्रेम और ममत्व तो है ही—साथ ही स्त्रियोचित गर्व कितना भव्य है—पढ़ते ही हृदय गद्गद् हो जाता है! यहाँ हमने काम के आकर्षण से शून्य स्त्री का स्वरूप देखा है। यहाँ उसमें सहचरी का भाव प्रधान है, उसकी समन्वय वृत्ति की ही प्रमुखता है। तभी तो राम कहते हैं—

अपनी सुधि ये कुलस्त्रियाँ लेती नहीं,
पुरुष न लें तो उपालम्भ देती नहीं।
कर देती हैं दान न अपने आपको?
कैसे अनुभव करें स्वात्म-सन्ताप को!

यह तो रहा दाम्पत्य-जीवन का एक पक्ष इसके अतिरिक्त संसार की सभी वस्तुओं की भाँति उसका दूसरा पक्ष भी है। वास्तव में जीवन के लिए संयम अनिवार्य है—उससे च्युत होना जीवन की गति को विषम बना देना है। दाम्पत्य जीवन के लिए तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक है; थोड़ी-सी असावधानी उसके रस को विषमय बनाने के लिए पर्याप्त होती है। इस बात का प्रमाण हमें दशरथ के वैवाहिक जीवन में मिलता है। दशरथ बहुपत्नीक थे फिर भी उनका प्रेम कैकेयी पर अत्यधिक था। एक प्रकार से स्त्रैणता की सीमा तक पहुँच चुका था। इसी से तो कैकेयी को कुपित देख कर—'अवनिपति उठे अचानक

काँप ।' और जीवन में पहिली वार पृथ्वी पर बैठ कर उस केशों को सहलाते हुए वे उसकी मिन्नतें करने लगे। उन रसाभ्यासी वृद्ध-हृदय में अब भी थोड़े बहुत रसिकता के संस्का वर्तमान थे; तभी तो उसके कोप को प्रणय-मान समझ बैठे

अम्ल होकर भी मधुर रसाल, गया निज प्रणय-कलह का काल
आज होकर हम राग अतीत; हुए प्रेमी से पितर पुनीत

परन्तु फल 'वृद्धस्य तरुणी विषम्' के अनुसार ही होत है और दशरथ दाम्पत्य जीवन का दूसरा चित्र हमारे सम्मुख रखते हैं—

दैव यह सपना है कि प्रतीत,
यही है नर-नारी की प्रीति।
जिसे चिन्तामणि माला जान,
हृदय पर दिया प्रधान स्थान।
अन्त में लेकर यों विषदन्त,
नागिनी निकली वह, हा हन्त !

इस प्रकार हमें 'साकेत में वैवाहिक जीवन की अत्यन्त विस्तृत और सफल व्याख्या मिलती है। उसके वर्णन सरस भावमय और सच्चे हैं जिनसे कवि की जीवन-व्यापिनी भावुकता का प्रमाण मिलता है।

दाम्पत्य के उपरान्त वात्सल्य का स्थान है। दाम्पत्य गृहस्थ जीवन का प्राण है—वात्सल्य उसकी उद्भूति है! वहाँ आत्माओं का एकीकरण है और यहाँ आत्मा का विभाजन अथवा प्रतिफलन—'आत्मा वै जायते पुत्रः'। साकेत में एक पिता है और तीन माताएँ हैं, जो माता होने के साथ विमाता और सास भी हैं। यह सम्मिलित परिवार आदर्श हिन्दू परिवार है

जिसमें स्वार्थ, ईर्ष्या, स्पर्धा का सर्वथा त्याग मिलता है। वहाँ ऐक्य और पारस्परिकता की रक्षा के लिए 'मेरे' और 'तेरे' की भावना का पूर्ण बहिष्कार है और इसीलिए सामञ्जस्य के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। साकेत में दशरथ वृद्ध अतएव अनिष्टभीरु पिता हैं। अनेक साधन और विषम तपस्या से उनको पुत्र-प्राप्ति हुई है—अतः उन पर अत्यधिक मोह होना स्वाभाविक है। उनके वात्सल्य का परिचय हमें कैकेयी के वर माँगने पर मिलता है। वृद्ध पिता का हृदय वनवास का नाम सुन कर ही उमड़ उठता है—परन्तु उसकी अनिवार्यता का प्रत्यक्ष होते ही उमड़ा हुआ आवेश एक साथ स्तब्ध हो जाता है और—

हुए जीवन-मरण के मध्य घृत-से वे!
रहे बस अर्ध-जीवित अर्ध-मृत से वे!

कौशल्या का पुत्र-स्नेह कुछ-कुछ दशरथ से मिलता जुलता है! वे भी अनिष्ट-भीरु वृद्ध माता हैं, जिनका कार्य ऐसा मालूम पड़ता है—कुल की मङ्गल कामना करना ही है। इस प्रेम में वृद्ध हृदय का मोह है, भोलापन है और एक विचित्र प्रकार की निस्पृहता है। उनका हृदय दूध के समान स्निग्ध और स्वच्छ है। इसीलिए तो राम के मुख से यह सुनकर भी कि—

मुझको वास मिला वन का।
जाता हूँ मैं अभी वहाँ
राज्य करेंगे भरत यहाँ

'माँ को प्रत्यय भी न हुआ, इसीलिए भय भी न हुआ।' यह सरल साधु हृदय की तात्कालिक स्थिति का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र है! किसी अनिष्ट की बात एक साथ सुनकर, मनुष्य

विश्वास नहीं करता और जब तक किसी बात पर प्रत्यय न हो, अर्थात् जब तक कोई बात हृदय में प्रविष्ट न हो, तब तक उससे डरना ही क्या ?—वे हँस कर कहने लगीं—

'लक्ष्मण ! यह दादा तेरा,—धैर्य देखता है मेरा ।'

परन्तु जब उन्होंने देखा कि—

'ऐं' लक्ष्मण तो रोता है।'

तो उनका भोला वात्सल्य एक साथ चीत्कार कर उठा—

'ईश्वर, यह क्या होता है !'

फिर भी उनको आशा बँधी रही और वे सोचने लगीं—

'क्या प्रथमोपराध तेरा, और विनीत विनय मेरा ।'

राम को क्षमा नहीं दिला सकेगा ! लेकिन शीघ्र ही उन्हें लक्ष्मण से मालूम हुआ कि—

'कर मँझली माँ के मनका, पथ लेते हैं ये वन का ।'

तब भी उनका वात्सल्य उदार ही रहा है। वे कैकेयी को दोष न देकर उसके वात्सल्य की प्रशंसा करती हैं—

पुत्र-स्नेह धन्य उनका, हठ है हृदय-जन्य उनका ।

उनको राज्य की चाह नहीं है, कैकेयी के भाग्य पर उन्हें ईर्ष्या नहीं है, उनका हृदय तो गद्गद् होकर यही माँगता है 'मुझे राम की भीख मिले ।' इसके लिए वे अपनी मर्यादा भी तोड़ने को प्रस्तुत हैं—छोटी सपत्नी के चरणों पर नतमस्तक होकर भिक्षा माँगने को तैयार हैं—भिक्षा केवल इतनी मात्र भिक्षा—

मेरा राम न वन जावे,
यहीं कहीं रहने पावे ।

'यहीं कहीं रहने पावे' में कितना दैन्य है । कौशल्या का यह भीरु मातृत्व अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहा—और जब हनूमान

से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनकर शत्रुघ्न आदि ससैन्य लंका जाने को प्रस्तुत होने लगते हैं तो वे एक साथ विचलित हो जाती हैं। वे राम की माता नहीं सभी की माता हैं। उनका दुख-दग्ध हृदय अब अधिक सहने में असमर्थ है। वे पाप-पुण्य, राष्ट्रीयता, स्वाभिमान आदि कुछ नहीं समझती। वृद्धा-शोक-विधुरा मां का हृदय वह सब कुछ जानता है—तभी वे शत्रुघ्न से कह उठती हैं—

'बेटा, बेटा, नहीं समझती हूँ यह सब मैं,
बहुत सह चुकी, और नहीं सह सकती अब मैं।
हाय! गये सो गये, रह गये सो रह जावें,
जाने दूँगी तुम्हें न, वे आवें जब आवें।

* * * *

देखूँ तुमको कौन छीनने मुझ से आता,"

दूसरी ओर है कैकेयी, जिसका वात्सल्य दीन अथवा निस्पृह नहीं है। उसमें ममत्व और मोह है, एक वेग है, एक आग है और है प्रतिपादन की स्पृहा। वह पुत्रों से प्रेम करती है; पुत्रों के लिये मरने को तैयार है हरन्तु उसमें अधिकार की भावना है और आवेग की प्रबलता। उसकी इसी दुर्बलता का फायदा मन्थरा उठाती है, और रानी विवेक खो बैठती है। कैकेयी में ममत्व अन्य माताओं से अधिक है; वह भरत को ही नहीं राम को भी उतना ही, उससे ज्यादा प्यार करती है। इसीलिये तो वह कहती है—

होने पर प्रायः अर्ध-रात्रि अँधेरी,
जीजी आकर करती पुकार थीं मेरी—

'लो कुहुकिन, अपना कुहुक, राम यह जागा,
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा।'

उक्त उद्धरण में हिन्दू पारिवारिक जीवन का एक बड़ा मधुर अनुभव छिपा हुआ है। सम्मिलित सुखी परिवारों में प्रायः ऐसा होता है कि बच्चे अपनी माता के अतिरिक्त किसी अन्य गृहदेवी, पितृव्या, मातामही आदि से हिल जाते हैं, इस अनुभव में पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का रहस्य है, ऐसे ही परिवार सुख-सम्पन्न होते हैं। यही कारण है कि मन्थरा के भेद भरे वाक्यों को सुनकर कैकेयी कह उठती है—

वचन क्यों कहती है तू वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम ?

और जब मन्थरा अपनी युक्तियाँ देती ही चली जाती है—

"भेद"! दासी ने कहा सतर्क—
"सबेरे दिखला देगा अर्क।
राज माता होंगी जब एक,
दूसरी देखेंगी अभिषेक।"

तो रानी क्रुद्ध हो जाती है, क्योंकि उसे गर्व है कि—

राम की माँ क्या कल या आज,
कहेगा मुझे न लोक-समाज—

कितना सात्विक गर्व है! इधर जब मन्थरा देखती है कि उसकी एक बात भी न चली तो वह अन्तिम बाण छोड़ती है—

भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य।
भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह!

यह निशाना भी कुछ हट कर वैठा किन्तु लक्ष्य के इतने पास अवश्य पहुँच गया कि उसका विष वहाँ तक वढ़ सकता था। कैकेयी एक साथ चमक उठती है और उसे वहाँ निकाल देती है—

द्विजिह्वे, रस में विप मत वोल।
उड़ाती है तू घर में कीच
नीच ही होते हैं वस नीच।
हमारे आपस के व्यवहार,
कहाँ से समझे तू अनुदार।

वस दासी भी 'मही पर अपना माथा टेक' चुपचाप चली जाती है! उसका इस प्रकार चला जाना कवि की अपनी उद्भावना है जिसका मूल्य युक्तियों से अधिक है। यदि वह कुछ देर और ठहरती या वहस करती तो रानी उसे जवर्दस्ती निकलवा देती, परन्तु उसका विनय और संयम काम कर गया! कैकेयी के एक अत्यन्त दुर्वल अङ्ग में चोट लगी। उसका रोम-रोम झङ्कार उठा—

भरत-से सुत पर भी सन्देह,
वुलाया तक न उसे जो गेह।

वाक्य उसके मस्तिष्क में उलझ गया। उसकी पुनरावृति द्वारा कवि ने भावों के आरोहावरोह का वड़ा सुन्दर चित्रण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी के सङ्कल्प-विकल्पों की भीड़ को चीरता हुआ यह वाक्य प्रतिवार उसके सम्मुख आकर खड़ा जाता है। रानी विह्वल हो जाती है, उसका हृदय परिताप और व्यथा से आपूर्ण हो जाता है। वह सोचने लगती है कि किस को दोष दूँ? विश्वास जैसी भावना का सूर्य कुल में संहार! भरत पर संशय का अनुमान मात्र ही उसके मातृत्व को कातर कर देता है—

भरत रे भरत, शील समुदाय,
गर्भ में आकर मेरे हाय!
हुआ यदि तू भी संशय-पात्र,
दग्ध हो तो मेरा यह गात्र!—

उसकी मातृ-भावना वेदना की ज्वाला में पिघल पड़ती है, परन्तु शीघ्र ही रानी में स्वाभिमान, सापत्न्य और स्त्रीत्व के भाव जागृत हो जाते हैं और वह कहने लगती है—

मुझे भी भाई के घर नाथ,
भेज क्यों दिया न सुत के साथ?

स्त्री को भाई पर बड़ा गर्व होता है, पति-कुल से विमुख होकर वह उसी ओर देख सकती है!

बस वह निश्चय करती है कि 'करूँगी मैं इसका प्रतिकार' अब उसकी ईर्ष्या की आग बढ़ने लगी और प्रत्येक विरोधी भाव मूर्तिमन्त होकर नाचने लगा! उसके संम्मुख कौशल्या का चित्र सा खिंच गया :—

"कौशल्या सीता को युवराज्ञी के योग्य उपदेश दे रही हैं—आज वे राज माता हैं और इसीलिए कैकेयी की ओर हँस रही हैं।" कैकेयी काँप जाती है और भूमि पर लेट कर पैर पटकना आरम्भ कर देती है! कैकेयी की मनोदशा का यह चित्र सर्वाङ्ग-पूर्ण है। उसमें भावों का क्रमिक और वैज्ञानिक विकास स्तुत्य है—महाकवि के अनुकूल है।

यही 'पुत्र-स्नेह'—यही 'हृदय जन्य हठ' आगे भयङ्कर रूप धारण करता है। यहाँ मँझली माँ विमाता बन जाती है—'भरत होता यहाँ तो मैं बताती'—कह कर वह फिर मातृत्व-गर्व का सहारा लेती है। यहीं समन्वय की भावना नष्ट हो जाती है

और कैकेयी और लक्ष्मण के वाद-विवाद में हमें आधुनिक परिवारों का गृह-कलह का जीता-जागता चित्र मिलता है। विमाता और सपत्नी-पुत्र की खुली गाली-गलौज होती है। 'अनार्या की जनी हत-भागिनी यह' जो महाकाव्य के गौरव के सर्वथा अनुपयुक्त है। कैकेयी सभी कुछ सहती है। इसी पुत्र-स्नेह के कारण उसे पति के कटु-वाक्य, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के अप-शब्द—सभी कुछ सह्य हो जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्य और आगे चलता है, उसको भरत का तिरस्कार भी सहना पड़ता है। यहाँ आकर उसका हृदय टूट जाता है उसका बल नष्ट हो जाता है —उसका मातृ-गर्व पानी-पानी हो जाता है—वह उन्मादिनी होकर चिल्ला उठती है—

सब करें मेरा महा अपवाद,
किन्तु उठ, ओ भरत, मेरा प्यार,
चाहता है एक तेरा प्यार!
राज्य कर, उठ वत्स, मेरे बाल,
मैं नरक भोगूँ भले चिरकाल!

वह स्वयं नरक भोगने को तैयार है। युवराज भरत से दण्ड-ग्रहण करने में भी उसे सुख है। यह है कैकेयी की ममता—उसका वात्सल्य! 'धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह—खा गया जो भून कर पति देह'—भरत के ये शब्द किसी अंश में अभिधार्थ में भी सत्य हैं।

भरत की विमुखता अन्त में उसके मोहान्धकार को दूर कर देती है और चित्रकूट में हम उसकी ग्लानि को शत सहस्र धाराओं में बहते हुये पाते हैं। वहाँ भी वह मातृत्व की ही दुहाई देती हुई कहती है—'अपराधिनि मैं हूँ तात तुम्हारी माता।' उसको सबसे बड़ा परिताप इस बात का है 'कुछ मूल्य नहीं

वात्सल्य-मात्र क्या तेरा।' आप देखें कि कैकेयी का मातृत्व कितना आवेगपूर्ण है। 'कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र क्या तेरा' कितना दर्द है! रानी के जीवन की समस्त व्यथा इस वाक्य में मुखर हो उठी है। उसकी अन्तिम प्रार्थना भी उसी के अनुकूल है—

छीने न मातृ-पद किन्तु भरत का मुझसे।

तीसरी माता हैं, सुमित्रा। वे क्षत्राणी माँ हैं जो कर्तव्य की वेदी पर स्नेह का बलिदान करने को सदैव प्रस्तुत रहती हैं! उनके मातृत्व में मोह की दुर्बलता नहीं, कर्तव्य की शक्ति है! वे लक्ष्मण को तो सहर्ष राम के साथ भेज ही देती हैं, उधर अवसर आने पर शत्रुघ्न को भी उसी ओर प्रेरित करती हैं—

परन्तु फिर भी उनके हृदय में माँ बैठी हुई है और आज्ञा देते-देते वह बोल उठती है:—

जिस विधि ने सविशेष दिया था मुझको जैसा'
लौटाती हूँ आज उसे वैसे-का-वैसा।

मातृ-ममता उमड़ी, परन्तु

पोंछ लिया नयनाम्बु मानिनी ने अञ्चल से।

भावों की गहनता मार्मिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी ने वातावरण का सृजन करने और उसको निवाहने की अपूर्व क्षमता का परिचय स्थान-स्थान पर दिया है।

मातृ-हृदय की एक अत्यन्त करुणास्निग्ध झलक जनकपुर में उर्मिला-सीता आदि की विदा के समय मिलती है। हिन्दू-गृहस्थ-जीवन में यह अवसर बड़ा सकरुण होता है। पन्द्रह-सोलह वर्ष तक पाली-पोसी हुई कन्या सदा के लिए दूसरे की होजाती है उस पर अपने हृदय का कोई अधिकार नहीं रह जाता। कितनी

विवशता है ! इस अवसर पर वनवासी कण्व भी रो उठे थे। माताएं—

'मत रो'—कह आप रो उठीं।
'तुम क्यों माँ यह धैर्य खो उठीं।'
'अह मैं जननी प्रपीड़िता।
पर तू है शिशु आज क्रीड़िता !
सुन, मैं यह एक दीन माँ
तुमको हैं अब प्राप्त तीन माँ।'

वास्तव में यह दुख बड़ा विचित्र होता है—और उर्मिला ठीक ही कहती है—

प्रिय आप न जो उवार लें,
हमको मातृ-वियोग मार लें।

मातृत्व का एक और पहलू है शुश्रुत्व जिसकी ओर उर्मिला की माता ने संकेत किया है ! साकेत में सास-बहू के मधुर सम्बन्ध का भी बड़ा सुन्दर व्याख्यान है। उसका अवलोकन करने के लिए कौशल्या के मन्दिर में चलिए। देखिए सामने कौशल्या देवार्चन में लगी हुई हैं और उनके पास ही जनक-सुता खड़ी हैं, जो—

'माँ क्या लाऊँ' कह-कह कर
पूँछ रही थीं रह-रह कर,
कभी आरती, धूप कभी,
सजती थीं सामान सभी।
दोनों शोभित थीं ऐसी।
मैना और उमा जैसी।

इसी समय राम ने जाकर माता को प्रणाम किया और 'माँ ने आशीर्वाद दिया।' इस पर—

हँस सीता कुछ सकुचाईं
आँखें तिरछी हो आईं,
लज्जा ने घूँघट काढ़ा।
"वहू तनिक अक्षत रोली,
तिलक लगादूँ," माँ बोली !

यह है सुखी परिवार का चित्र ! इसमें स्वाभाविकता और सरसता के साथ आदर्श घुल-मिल गया है।

वात्सल्य और दाम्पत्य की मध्यवर्तिनी एक और भावना है जिसका प्रतिफलन देवर-भाभी के स्निग्ध सम्बन्ध में मिलता है। यह भावना हिन्दू जीवन की ही विशेषता है, अन्यत्र इसका अभाव मिलता है। इस सम्बन्ध में एक विचित्र रस है जिसमें कुछ-कुछ सात्विक रोमांस की झलक मिलती है। साकेत के कवि को इसके चित्रण में खास कमाल हासिल है। सीता और लक्ष्मण के सम्बन्ध में यद्यपि वात्सल्य का ही आधिक्य है परन्तु फिर भी साकेत के लक्ष्मण की दृष्टि सीता के नूपुरों से कभी उठती ही न हो यह बात नहीं। प्रयाग राज में गङ्गा-जमुना के सङ्गम को देख कर-सीता लक्ष्मण से हर्ष-गद्गद् कह उठती है:—

'श्याम-गौर तुम एक प्राण दो देह ज्यों।'

इस पर—रामानुज ने कहा कि, भाभी क्यों नहीं,

'सरस्वती-सी प्रकट जहाँ तुम हो रहीं।'

तो सीता भी तुरन्त ही प्रत्युत्तर देती हैं—

देवर मेरी सरस्वती अब है कहाँ
संगम-शोभा देख निमग्न हुई यहाँ।

वहीं भावना भरत के चित्रकूट-आगमन के अवसर पर और प्रस्फुट हो जाती है। भरत को ससैन्य आता हुआ देख

गार्हस्थ-जीवन का एक अङ्ग, भृत्य-समाज भी है। साकेत के राजपरिवार में सुमन्त तो परिवार-भुक्त ही हैं—उनको राम-लक्ष्मण काका कह कर पुकारते हैं—अन्य सेवक भी सुख सम्पन्न हैं। भरत को कुसमय में भी उनका ध्यान है—'सो कुछ नहीं किन्तु भृत्यों को प्रिये कष्ट ही होगा।' और अस्तु !

उक्त विवेचन से महाकवि के गार्हस्थ चित्रों की अपूर्व सफलता का थोड़ा बहुत परिचय अवश्य मिल गया होगा। इसका रहस्य उन्हीं के शब्दों में है—

'होता है कृतकृत्य सहज बहु-जन-गृही।'

वे स्वयं बहुजन गृही हैं।

साकेत में राम की भगिनी शान्ता का भी उल्लेख है! केवल एक बार, वह भी गृहस्थ-चित्र को ही पूर्ण करने के लिए। राम-लक्ष्मण कौशिक के साथ राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने जा रहे हैं। छोटे अबोध राजकुमार आज पहली बार ही घर से विदा ले रहे हैं। घर से विदा-यात्रा के समय वहाँ एक विचित्र वातावरण हो जाता है। राम लक्ष्मण थे वीर पुत्र और सद्कार्य के लिये जा रहे थे। उनकी विदा का चित्र देखिए—उसमें उत्साह, उल्लास और स्नेह के पीछे करुणा भी झाँक रही है—

कसती कटि थीं कनिष्ट माँ, असि देती मँझली वनिष्ट माँ,
कह 'क्यों न हमें किया प्रजा'? पहनातीं वह ज्येष्ठ माँ स्रजा।
प्रभु ने चलते हुये कहा, 'अब शान्ते भय-सोच क्या रहा,
भगिनी, जय-मूर्ति-सी झुकी, यह राखी जब बाँध तू चुकी?'

बहिन का हिन्दू-संस्कृति के अनुसार हमारे परिवार में क्या स्थान है, इसकी बड़ी सुन्दर व्यञ्जना की गयी है। इसी शान्ता बहिन को लेकर उर्मिला भी एक स्थान पर लक्ष्मण को मजाक में चुप कर देती है! वहाँ ननद-भाभी के मधुर सम्बन्ध की झाँकी है! एक दिन अशोक को देख लक्ष्मण ने उर्मिला पर कटाक्ष किया था—

प्रिय ने कहा था 'प्रिये, पहले ही फूला यह
भीति [illegible] थी इसको तुम्हारे पदाघात की'।

तो उर्मिला ने भी 'सती शान्ता को सुलक्ष कर' उनको ऐसा उत्तर दिया कि बेचारे को चुप रहना पड़ा :—

भूलते हो नाथ! फूल फूलते ये कैसे, यदि
ननद न देतीं प्रीति पद-जलजात की!

गार्हस्थ-जीवन का एक अङ्ग, भृत्य-समाज भी है। साकेत के राजपरिवार में सुमन्त तो परिवार-भुक्त ही हैं—उनको राम-लक्ष्मण काका कह कर पुकारते हैं—अन्य सेवक भी सुख सम्पन्न हैं। भरत को कुसमय में भी उनका ध्यान है—'सो कुछ नहीं किन्तु भृत्यों को निश्चे कष्ट ही होगा।' और अस्तु!

उक्त विवेचन से महाकवि के गार्हस्थ चित्रों की अपूर्व सफलता का थोड़ा बहुत परिचय अवश्य मिल गया होगा। इसका रहस्य उन्हीं के शब्दों में है—

'होता है कृतकृत्य सहज बहु-जन-गृही।'

वे स्वयं बहुजन गृही हैं।

साकेत में विरह

विरह प्रेम का तप्त स्वर्ण है। वेदना की अग्नि में तप कर प्रेम की मलिनता गल जाती है और जो कुछ शेष रह जाता है वह एकान्त शुद्ध और निर्मल होता है। विरह में मिलने से अधिक गांभीर्य और स्थिरता होती है और प्रतीक्षा की अथवा अतृप्ति की उत्सुकता के कारण रसानुभूति की मात्रा अधिक रहती है! इसीलिए तो कवि समाज में विप्रलम्भ का मान अधिक रहा है। वह प्रेम के अश्रुमय स्वरूप पर अधिक रीझा है।

'And love is loveliest when emblamed in tears'

रवि बाबू कहते हैं कि मेरे हृदय में एक विरहिणी नारी बैठी है जो अपने दुःख का गीत सुनाया करती है। यह विरहिणी अजर अमर है और उनके ही हृदय में नहीं, सभी कवियों की आत्मा में इसका निवास है। यही विरहिणी कालिदास के हृदय में शकुन्तला, भवभूति के हृदय में सीता, जायसी की आत्मा में नागमती, सूर के अन्तस में राधा और मीरा के प्राणों में अरूप होकर रोई थी। मैथिलीशरण के हृदय में वही उर्मिला बन गई।

हिन्दी के प्राचीन काल में विरह के कवि प्रधानतः जायसी, सूर, मीरा हुये हैं। इनके अतिरिक्त देव, घनानन्द और ठाकुर भी वेदना के कुशल गायक थे। विहारी आदि रीतिकालीन कवियों में विरह निवेदन इतना नहीं है जितना उक्ति चमत्कार। इस युग में हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, महादेवी और बच्चन के विरह गीत आँसुओं से गीले हैं। इन कवियों में हमें तीन श्रेणियाँ स्पष्ट लक्षित हो जाती हैं—१—प्रबन्ध-काव्यकार जिन्होंने अपना हृदय नायिका के कण्ठ में उँडेल कर उसके आश्रय से विरह-गान किया है। २—वे कवि जिनका विरह लौकिक आलम्बन दिव्य है और जिन्होंने अपनी आत्मा की वियोग पीड़ा को मुखरित किया है। ३—वे कवि जिनका विरह लौकिक आलम्बन पर स्थित व्यक्तिगत विरह है। पहिली श्रेणी में जायसी, सूर, हरिऔध और मैथिली बाबू का नाम है। दूसरी में मीरा, प्रसाद और महादेवी हैं और तीसरी श्रेणी में घनानन्द, ठाकुर आदि का नाम है। परन्तु आश्रय-आलम्बन में अन्तर होते हुये भी शुद्ध भावना के धरातल पर पहुँच कर वे सभी एक हो जाते हैं।

उर्मिला का विरह साकेत की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। उसकी परिस्थिति की दयनीयता उर्मिला के विरह को और भी करुण बना देती है। सीता राम के साथ प्रकाश के साथ छाया की भाँति बनी रहती है। मांडवी और श्रुतिकीर्ति अपने प्रिय पतियों से अविभक्त हैं। दुःख की परवशता उनको और निकट खींच लाई है। अतः उनके प्रेम का उपकार ही हुआ है। परन्तु उर्मिला निस्सम्बल है, उसके लिए वियोग के आदर्श के अतिरिक्त जो विवशता का अन्तिम उपचार है—और कोई साधन नहीं है। उसकी माता ने ठीक ही कहा था—

मिला न वन ही न गेह ही तुझको ।

वियोग का आरम्भ वास्तविक विच्छेद से नहीं होता उसके लिए तो सूचना मात्र ही पर्याप्त है, और वियोग का अवसर तो वियोग से भी कहीं अधिक दारुण होता है। इसीलिए प्रवत्स्य-त्पतिका का चित्र प्रोषित-पतिका के चित्र से अधिक मार्मिक होता है। प्रिय के प्रवास के समय चिन्ता, दुख, मोह, काम, आशङ्का, निरवलम्बता और एकाकीपन का भाव न जाने क्या-क्या मन में आता है। उर्मिला प्रवत्स्यत्पतिका है। उर्मिला, केवल उर्मिला ही ऐसी अभागिनी है। परन्तु वह ईर्ष्या से निर्मुक्त है—यह भाव उसके हृदय में उठता ही नहीं। वह सभी कुछ विवश भाव से मान लेती है और मन को समझाती भी है।

"..................................हे मन,
तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।

परन्तु उसकी परिस्थिति की विषमता उसको परवश कर देती है। सीता राम को विवाद में यह कहकर परास्त कर देती है:—

अथवा कुछ भी न हो वहाँ
तुम तो हो जो नहीं यहाँ!
मेरी यही महा मति है,
पति ही पत्नी की गति है।

राम स्वीकृति दे देते हैं! परिस्थिति का यह वैषम्य उर्मिला की भावना को और तीव्र कर देता है—उधर इस तीव्र भाव का अप्राकृतिक सङ्कोच एवं दमन उसे 'मुग्ध' बना देता है और वह हाय कह कर धड़ाम से गिर पड़ती है! प्रवास का चित्र बड़ा करुण है। यहाँ कवि ने प्रत्यक्ष रूप से भाव प्रकाशन नहीं कराया, यहाँ तो परिस्थिति की गम्भीरता ही विरहिणी की व्यथा की ओर निर्देश करती है। उर्मिला को देख सभी कातर

हो जाते हैं। लक्ष्मण आँख बन्द कर लेते हैं, सीता भयभीत होकर व्यजन डुलाने लगती हैं। उनको भी अपनी और उसकी स्थिति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है और वे कह उठती हैं—

आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा! तेरा!

माताएँ अचल-मूर्ति बन जाती हैं! राम भी व्यग्र होते हैं।

इस प्रकार कवि ने दूसरों की कातरता के द्वारा वियोगिनी की कातरता की अभिव्यक्ति की है। उक्त भावनायें उर्मिला की दयनीयता को पुष्ट करती है। वह सबसे अधिक निराधार है! परन्तु यदि वह स्वयं ही उक्त भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करती तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेतीं। इसलिए कवि ने राम और सीता के द्वारा उनकी ओर संकेत कराया है! यह उसका कौशल है। इससे नायिका की गौरव-गरिमा की संरक्षा हुई है!

लक्ष्मण वियोग-जयी होकर चले गये और उर्मिला एकाकी प्रेम मयी बन कर रह गई! नव वय में ही उसका विश्लेषण हो गया। यौवन में ही यति का वेश मिल गया।

उसका वियोग-जन्य कृषता का चित्र कवि उपस्थित करता है—

मुख-कान्ति पड़ी पीली-पीली,
आँखें अशान्त नीली-नीली,
क्या हाय यही वह कृश काया,
या उसकी शेष सूक्ष्म छाया!

बिहारी की—

'करके मीड़े कुसुम लों नीठि पिछानी जाय'

से भी उसकी अवस्था करुणतर है! सखियाँ उसको धीरज देने लगीं—"राजा ने सुमन्त को भेजा है, राम के वियोग में एक पल वर्ष के समान गिना जायगा, अतः वे तो आज कल में ही आजाएँगे। इसलिए सोच करने की आवश्यकता नहीं।" यह सुन कर विरहिणी के होठों पर विषादमयी मुस्कान की रेखा दौड़ जाती है और वह कह उठती है—

सब गया, हाय आशा न गई।

× × ×

लौटेंगे क्या प्रभु और वहन ?
उनके पीछे हा दुख-दहन !

'जो ज्ञाता है वे जान गए।' इन शब्दों में कितना विश्वास : विश्वास में कितनी निराशा और उस निराशा में कितना गर्व।

उनका वियोग धीरे धीरे वल प्राप्त करता है! और अब उसे यही दुःख है—

यदि स्वामि-संगिनी रह न सकी,
तो क्यों इतना भी कह न सकी,
हे नाथ साथ दो भ्राता का,
वल रहे मुझे उस त्राता का।

× × × ×

यह नारि-सुलभ दुर्वलता थी,
आकस्मिक वेग विकलता थी,
करना न सोच मेरा इससे!

जहाँ पारस्परिक प्रेम होता है वहाँ अपनी वियोग व्यथा प्रेमी को वियोग व्यथा का विचार कर और भी द्विगुणित हो जाती है।

मैं तो रह ही रही हूँ वे कैसे रहते होंगे ? यह भावना प्रत्येक प्रेमी प्रेमिका के हृदय में उठती है। उर्मिला को यही सोच है—

करना न सोच मेरा इससे।

यह कहते-कहते उसका आदर्श और भी ऊँचा उठ जाता है और उसके हृदय में अलौकिक सन्तोष का प्रचार होता है—उसके लिए अब इतना ही बस है—

आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।

सन्तोष में कितनी दीनता है !

चित्रकूट में एक बार फिर सीता के लाघव से उर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन होता है। स्त्री का हृदय ही स्त्री के हृदय को पहिचानता है। आजकल भी कभी परिवार में इस प्रकार के मिलन का माध्यम स्त्रियाँ ही विशेषकर भाभियाँ ही किया करती हैं। सीता उर्मिला की वेदना को पहिचानती हैं, अतः वे लक्ष्मण को धोखे से जैसा कि प्रायः स्त्रियाँ करती हैं, कुटिया में भेजती हैं। प्रवेश करते ही लक्ष्मण कोने में उर्मिला को देखते हैं जो वियोग में कृश होते-होते अब केवल रेखा मात्र रह गयी थी। वे क्षण भर के लिए विमूढ़-से हो जाते हैं और निश्चय नहीं कर पाते कि वह उर्मिला ही है अथवा उसकी छाया। आखिर उर्मिला ही लक्ष्मण की इस अवस्था को देखकर पुकार उठती है —

मेरे उपवन के हरिण, आज वन चारी
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी !

उसके उपवन का हरिण आज वनचारी हो गया है—इस लिये कदाचित उपवन में आने से डरता है कि बाँध न लिया जाऊँ। वह विश्वास दिलाती है "नहीं—मैंने अपनी मरजी से ही तुम्हें छोड़ा है, मैं नहीं बाधूँगी, डरो न!" लक्ष्मण के हृदय का तूफान शब्दातीत था—अतः

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में,
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।

यह आवेश का आवेश से मिलन था। दो हृदयों के अथाह सागर आपस में मिल गये—संसार लय हो गया! लक्ष्मण का हृदय अपराधी है, वह जानता है कि उर्मिला के साथ अन्याय हुआ है! उधर उर्मिला की उदारता देखकर वह और लज्जित हो जाता है। लक्ष्मण अपने आप को उर्मिला से कहीं नीचा मानते हैं और कह उठते हैं—

वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।

उर्मिला को बहुत कुछ कहना था वे सभी बातें जो पहली बार नहीं कही जा सकती थीं अब कही जा सकती थीं परन्तु क्या उसमें इतनी शक्ति थी। बस बेचारी—

हा स्वामी, कहना था क्या क्या कह न सकी, कर्मों का दोष,
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है सन्तोष!

कहकर विवश हो जाती है! इस प्रकार कवि ने विच्छेद के दोनों अवसरों पर अनुभावों से ही काम लिया है! व्यंजना की गई है, अभिव्यक्त नहीं। अभिव्यक्ति तो ऐसे अवसर पर वैसे भी असम्भव अथवा अप्राकृतिक है।

उर्मिला अब पूर्णतया प्रोषित-पतिका है, पूरे चौदह वर्ष के लिए, समस्त आशा और उपचार से परे।

अवधि-शिला का उर पर था गुरुभार।
तिलतिल काट रही थी दृग-जल-धार॥

उर्मिला के विरह वर्णन में भी कवि के व्यक्तित्व और उसकी शैली की भाँति प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण है। एक ओर उसमें ताप का ऊहात्मक वर्णन है, षट् ऋतु आदि का समावेश है, तो दूसरी ओर व्यथा का संवेदनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक व्यक्तीकरण भी।

ताप का वर्णन साकेत में कम ही हुआ है, उसमें ऊहा है परन्तु वह सम्भावना और स्वाभाविकता की मर्यादा के परे नहीं जाती—

मानस मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप॥

एकाध स्थान पर यह ताप कुछ और बढ़ जाता है, परन्तु वहाँ भी कवि का कौशल ऊहा को संभाल लेता है—

जा, मलयानिल, लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप॥

यहाँ उर्मिला अवधि के शाप की सहायता लेकर विरह-ताप की ऊहा करती है उसका ताप ही मलयानिल को लू नहीं बनाता। इसी प्रकार—

ठहर अरी, इस हृदय में लगी विरह की आग।
तालवृन्त से और भी धधक उठेगी जाग॥

में भी यही बात है। परन्तु ऐसे उदाहरण साकेत में

और नहीं मिलते। उसमें तो जीवन-गत विरह वेदना का ही प्राधान्य है।

वास्तव में उर्मिला का विरह जीवन के बाहर की वस्तु नहीं है, उसका प्रतिफलन नित्य-प्रति के गृहस्थ-जीवन में ही हुआ है, वह न तो कुलकानि बेचकर योगिनी ही बनकर घर से निकलती है, न उसका उन्माद ही साधारण जीवन से परे कोई प्रलयङ्कर विधान है। वह तो राज-परिवार की वियोगिनी कुल-ललना है। उसका जीवन एक कारागार बन गया है, जिसमें बन्दिनी स्मृतियाँ छटपटा रही हैं—साथ ही नित्य-प्रति के कर्तव्य-कर्म भी सजग प्रहरियों की भाँति अड़े रहते हैं। उसको खाना है, पीना है, स्नान सन्ध्या करना है, पालित पशु-पक्षियों की चिन्ता करना है, दूसरों की सेवा-सुश्रुषा का भार है।—परन्तु उधर उसके सन्मुख अवधि के चौदह वर्ष! जिसका एक-एक पल एक-एक वर्ष से अधिक है—ऐसे सुदीर्घ चौदह वर्ष! विरहिणी का जीवन समय की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है—प्रातः काल होता है। बड़ी कठिनाई से मध्याह्न आता है, फिर सन्ध्या; और रात तो कल्प हो जाती है। समय काटने का कोई साधन नहीं, हो तो उसका उपयोग करने की क्षमता नहीं! बस दिन भर में उसे खाना, पीना, सोना और रोना है—

खान-पान तो ठीक है, पर तदनन्तर हाय।
आवश्यक विश्राम जो, उसका कौन उपाय॥

सखी उसके खाने के लिये क्षीर लाई है। (अकेला प्रलाप कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है, इसलिये कवि ने सुलक्षणा नाम की सखी की कल्पना की है) "जिसने मम यातना सही।

यह पार्श्वस्थ सुलक्षणा वही।" विरह में भूख कहाँ? सखी हठ करती है, तो उर्मिला झीक उठती है—

लाई है क्षीर क्यों तू? हठ मत कर यों,
मैं पियूंगी न आली,
मैं हूँ क्या हाय! कोई शिशु सफल हठी,
रंक भी राज्यशाली॥

सखी नहीं मानती—आखिर उसे खाना ही पड़ता है। परन्तु बड़ी खीझ के साथ अनिच्छा से—

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि पहन लूँ ला, सब करूँ,
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो मानूँ सो, किस विधि बता धीरज धरूँ,
अरी कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ॥

अन्तिम पंक्ति में कितनी व्यथा है। विरहिणी सब कुछ करने को तैयार है क्योंकि उसे अवधि के अन्त तक जीवित रहना है—'एक बार प्रियतम के पद पकड़ कर फिर चाहे वह मर जाये' इसलिए उसे जीवन का मोह है—

कहाँ जायँगे प्राण ये लेकर इतना ताप,
प्रिय के-फिरने पर इन्हें, फिरना होगा आप!

खाने की बात कहते-कहते उसे अपने संयोग के दिनों की याद आ जाती है, जब वह लक्ष्मण को भोजन कराके अपना गृहिणी कर्म सफल किया करती थी। आज वह समय दूर अतीत के गर्भ में विलीन हो गया है। अब भी वह गृहस्थ काम संभालती है, परन्तु उसमें अब वह आनन्द नहीं रहा—

बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।

रहा किन्तु मेरे लिये एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोंना सलोंना ?

उसके सम्मुख सबसे बड़ी समस्या है, समय का काटना। अतः वह कोई ऐसा साथी चाहती है जिससे उसका मन बहले! समदुखी स्वभाव से ही आत्मीय बन जाता है—उस पर अपना अकारण ममत्व हो जाता है। इसलिये उर्मिला सम-प्रोषित-पतिकाओं को निमन्त्रण देती है—

प्रोषित-पतिकाएँ हों,
जितनी भी सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ!

परन्तु जब इतनी बड़ी पुरी में उसे कोई भी ऐसी दुःखनी नहीं मिलती, तो वह कभी चित्र-रचना में लग जाती है, कभी शुक-सारिका से ही मन बहलाने लगती है। तोता उसे उदास देख कर कह उठता है—'हाय रूठो न रानी'! उर्मिला तोते को उड़ा देने की आज्ञा देती है, परन्तु तुरन्त ही उसे उन पक्षियों की विवशता का ज्ञान होता है और उसके हृदय में दया उमड़ आती है—

विहग उड़ना भी ये बद्ध हो भूल गये, अये,
यदि अब इन्हें छोड़ें तो और निर्दयता दये!
परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हें, सब हैं वहे,
बस अब हमीं साथी-संगी, सभी इनके रहे।

उर्मिला के हृदय में उनके लिए बड़ा महत्व है—तभी तो ये सभी उसके दुःख से दुखी हैं। उर्मिला तोते से पूछती है—

कह विहग, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे?

तोता सदा की भाँति उत्तर देता है 'मृगया में'। उर्मिला विह्वल हो जाती है, उसकी वाणी में अतुल दैन्य का संचार हो जाता है—

वह कहती है—

सचमुच मृगया में? तो अहेरी नये वे,
यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों ही गये वे?

ये वास्तव में नये अहेरी हैं। यदि ऐसा न होता तो रास्ते में पड़ी हुई इस आहत हरिणी को क्यो छोड़ जाते? आहत हरिणी से उर्मिला अपनी मैत्री स्थापित करती है। 'अहेरी नये वे' की सांकेतिक व्यञ्जना भी कितनी मधुर है, कितनी गहरी!—धीरे-धीरे-सन्ध्या हो आती है और लोहित लेख लिख कर दिन डूब जाता है। फिर रात आती है, दीपक जलता है, उस पर पतंगे आते हैं! वहाँ भी विरहिणी को अपनी ही व्यथा की झाँकी मिलती है—

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली।
किन्तु पतङ्ग भाग्य-लिपि काली-
किसका वश चलता है?

अपनी परवशता की ओर विरहिणी का संकेत मार्मिक है! अब रात से रार रुपती है। रानी प्रिय के स्वप्न का आह्वान करती है, परन्तु नींद तो आती ही नहीं! फिर बेचारी गूँगी निदिया को फुसलाती है, परन्तु—

हाय! न आया स्वप्न भी, और गई यह रात!
सखि उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात?

आगे षट् ऋतु-परिवर्तन के साथ वियोगिनी की भावनाएँ परिवर्तित होती हैं। प्रारम्भ ग्रीष्म से होता है। उर्मिला तपोयोगी ग्रीष्म का स्वागत करती है—इसलिए कि वह खेतों का सार है! उसमें परहित चिन्तन की भावना सर्वत्र मिलेगी। वियोग उसे आत्मार्थी न बनाकर परमार्थी बना देता है। षट ऋतु की परम्परा

प्राचीन है, परन्तु साकेत में उसका प्रयोग नवीन ढङ्ग से हुआ है। कवि ने उसका उपयोग-उद्दीपन की दृष्टि से तो अवश्य किया है, परन्तु वह उद्दीपन शारीरिक ताप का अनुमान लगाने के लिए, अथवा उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखाने को नहीं है। उर्मिला को तो अपना समय काटना था, अतः कवि ने परिवर्तित ऋतुओं की प्रतिकिया स्वरूप जो भावनाएं विरहिणी के हृदय में जाग्रत हुईं, अथवा ऋतु-परिवर्तन के साथ परिवर्तित दिनचर्या का उसके मन पर जो प्रभाव पड़ा, वह ही सर्वत्र व्यक्त किया है। ग्रीष्म के लगते ही समर्थ जगत ने उसके ताप का उपचार करना प्रारम्भ कर दिया। उशीर की आड़, भूमि-गर्भ का निवास, ताल-वृन्त, स्नान, चन्द्रकांत-मणि आदि का उपयोग होने लगा! सखि ने उर्मिला के लिए भी ये ही साधन जुटाने चाहे, परन्तु उन सब से उसकी व्यथा और बढ़ती ही थी, अतः उनका प्रभाव उलटा ही पड़ा। सखी उसको अन्दर भूमि-गर्भ के शयनागार में ले चलना चाहती है—यहाँ शीतलता है परन्तु विरहिणी को ऐसा प्रतीत होता है मानो उसे अन्धकार गर्भ में ढकेला जा रहा हो। उसे वहाँ भय लगता है।

ठेल मुझे न अकेली अन्ध अवनि-गर्भ-गेह में
आज कहाँ है उसमें हिमांशु मुख की अपूर्व उजियाली!

उर्मिला राज-वधू है अतः उसके उपचार साधन सभी रईसी हैं, उसी के उपयुक्त हैं। जायसी ने नागमती के विरह में छान और थिगूनी का वर्णन किया है, और आचार्य शुक्ल ने उसकी दाद देते हुए कहा है 'रानी नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती है, और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है……', नागमती की उक्ति की मार्मिकता असन्दिग्ध होते हुए भी उसकी स्वाभाविकता अवश्य

संदिग्ध है। आचार्य ने भी यहाँ मनोवैज्ञानिक भूल की है। जायसी पात्र की स्थिति को भूल गये हैं। और उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव मुखर हो उठा है! अतः उनके कथन में हृदय-स्पर्शिता अवश्य आ गई है, परन्तु फिर भी वह अस्वाभाविक रहेगा ही! साधारणीकरण का यह रूप नहीं है! दमयन्ती और सीता वनवासिनी होकर भी ऐसा नहीं कहती!—ग्रीष्म के वर्णन में कवि ने एकाध स्थान पर हेतूत्प्रेक्षा का व्यंग्य रूप में प्रयोग किया है। उर्मिला सोचती है कि ग्रीष्म का ताप लक्ष्मण के तप के कारण है, इसीलिये कातर पुकार उठती है—

> मम को यों मत जीतो
> बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो!

यह अलङ्कार भी कितना भाव-गर्भित है!

अब वर्षा आ गयी। वर्षा में कवियों ने विरहियों की अवस्था को बड़ा करुण अङ्कित किया है—'वर्षा लोके भवति सुखिन....' परन्तु उर्मिला उसके उज्ज्वल पक्ष को ही लेती है, उसकी उदार भावना वर्षा में उपकार की ही वृत्ति पाती है—

> बरस घटा बरसूं मैं संग
> सरसें अवनी के सब अंग
> मिले मुझे भी कभी उमङ्ग
> सब के साथ सयानी!

बादलों को देख कर कभी वह स्मृति में लीन हो जाती है। उसे अपने सुख-विलास के दिन याद आते हैं—जब

> हैं हैं कर लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर,
> बाहर से संकुचित भीतर से फूले से,

उधर घनालिङ्गिता तड़िता को देख कर उसे अपना

घनालिङ्गन याद आ जाता है:—

शरद में खंजनों को देख लक्ष्मण के नयनों का आभास मिल जाता है:—

> निरख सखी ये खंजन आये,
> फेरे उन मेरे रञ्जन ने नयन इधर मन भाये।

कल्पना कुछ दूर की है, परन्तु कवि-समाज में इस प्रकार का वर्णन विरह-प्रसंग का एक मुख्य अङ्ग रहा है! इस प्रकार के सादृश्य की भावना को बड़ी दूर तक घसीटा गया है। केशव का एक पद्य लीजिये—

> कल हंस कलानिधि खंजन कंज कछू दिन केशव देख जिये।
> गति आनन लोचन पायन के अनुरूपक से मन मानि लिये।
> यहि काल कराल से शोधि सबै हठि कै बरषा मिस दूर किये।
> अबधौं बिनु प्राण-प्रिया रहिहैं कहि कौन हितू अवलम्ब हिये।

इस दृष्टि से तो साकेत की यह उक्ति स्वाभाविकता की परिधि में ही रही है—इसके अतिरिक्त उनके शब्द-सङ्गठन में एक विचित्र भोलापन है जिससे कथन की मार्मिकता और बढ़ गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साकेत के विरह-वर्णन की शैली अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। यहाँ बदलते हुये छन्दों में नित्य-प्रति के जीवन से सम्बद्ध भावनाओं की इस प्रकार व्यञ्जना हुई है कि यह प्रतीत होता है कि मानो कोई विरहिणी करवटें बदल बदल कर सभी आर्तों को झींकती हुई रोदन कर रही हो।

वियोग-दशा में, अथवा दुःख में कहिये आत्मीयता की भावना बहुत बढ़ जाती है। सहानुभूति प्राप्त करने के लिए सहानुभूति प्रदान करना अनिवार्य है। वैसे भी दुःख में हृदय इतना कोमल हो जाता है कि जहाँ उसे तनिक भी सहानुभूति

मती वहीं उसका ममत्व उमड़ पड़ता है। उर्मिला का स्नेह आज अपने समीप रहने वाले सभी प्राणियों पर बिखर रहा है। कभी वह कोक से कहती है—

कोक, शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो सुन तू मेरी बात।

कभी मकड़ी पर दया दिखाती है—

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगृता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान दशा।

काव्य में मकड़ी जैसे जीवों से सहानुभूति दिखाने का यह कदाचित पहिला अवसर है। लक्ष्मण की रानी उर्मिला की उदारता का विस्तार आज महत्तम से लेकर लघुत्तम तक है—आज महान् और लघु का अन्तर ही मिट गया है। एक ओर यह राज्य को धिक्कारती है, दूसरी ओर वह घूरे से अपनी तुलना करती है—

कूड़े से भी आगे,
पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते-गिरते,
दिन बारह वर्षों में,
घूरे के भी सुने गए हैं फ़िरते !

उर्मिला के विरह में देश काल का भी सम्यक् आभास है। उसका अपना दुख दूसरों के दुख से निरपेक्ष नहीं है। देश में दुख की घटा छाई हुई है—धनधान्य की कमी नहीं, अब भी गुड़-गोरस सभी प्रभूत मात्रा में हैं, परन्तु कृषकों को उसका स्वाद भी नहीं मालूम:—

किन्तु स्वाद कैसा है न जाने इस वर्ष हाय !
यह कह रोई एक अबला किसान की।

यह देश काल का ही प्रभाव है।

यहाँ तक तो रहा-विरह-जीवन का बाह्य-पक्ष, अर्थात् जीवन की परिस्थितियों का विरहिणी के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन! अब उसके आन्तरिक स्वरूप को और देख लिया जाय। संस्कृत के आचार्यों ने विरह की दस अवस्थायें काम दशाएँ कही हैं। आधुनिक समीक्षक उनको देख कर चौंकते हैं—कहते हैं भावनाओं की सीमा बाँधना! उपहास है! वास्तव में यह ठीक भी है, परन्तु फिर भी विरह में अभिलाषा अर्थात् प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा, चिन्ता अथवा प्रियतम के इष्ट-अनिष्ट की चिन्ता, स्मृति या अपने प्रेम-पात्र के सत्सङ्ग में उपभुक्त सुखों का स्मरण, गुणकथन आदि सभी स्वभावतः होता है। इनमें तीव्रता आ जाने से उद्वेग, प्रलाप, उन्माद और व्याधि, कभी-कभी जड़ता और मरण तक हो जाता है। ये भावनाएँ चिरन्तन और सर्वसाधारण हैं, देशकाल के व्यवधान से परे हैं! हाँ जिन सीमाओं में आचार्यों ने उन्हें जकड़ रक्खा है वे सर्वथा मान्य नहीं। भावनाएँ एक दूसरी से मिली-जुली रहती हैं, और अभिलाषा यहीं समाप्त होती है—इसके आगे चिन्ता का राज्य है अथवा प्रलाप और उन्माद की परिधि पर कोई माइल स्टोन गड़ा हुआ है, यह कहना अस्वाभाविक है।

प्रत्येक विरही को अपने प्रिय से मिलने की अभिलाषा होती है। वास्तव में विरह में यह सब से प्रधान भावना भी है और अन्य कामदशाओं का जन्म इसी से होता है—अतः इसका स्थान प्रथम है। सभी विप्रलम्भ के कवियों ने इसका वर्णन किया है। उर्मिला की अभिलाषा में देखिए कितना भोलापन है—

यही आती है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।

वीच वीच में उन्हें देखलूं मैं झुरमुट की ओट,
जव वे निकल जायँ तव लेटूँ उसी धूल में लोट।

उसका यह कथन नागमती की अभिलाषा की याद दिलाता है—

रात दिवस वस यह जिउ मोरे,
लगों निहोर कंत अव तोरे।

× × × ×

यह तन जारौ छार कै कहौ कि पवन उड़ाय,
मकु तेहि मारग गिरि परै कन्त धरै जिहि पाँव।

अभिलाषा की आतुरता और वढ़ती है—परन्तु सामने विरह दीवार खड़ी है, अतः वह सोचने लगती है—

आप अवधि वन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊं
मैं अपने को आप मिटा कर, जाकर उनको लाऊं।

उत्कण्ठा में कितना आवेग है!

उर्मिला और लक्ष्मण का प्रणय-युग्म अद्वितीय था—उनमें सुन्दरता थी, यौवन था, पास में साधन थे, सुख था—अतः उनका संयुक्त जीवन, उसका रस-विलास अपूर्व था! आज वह स्वप्न हो गया! उसकी स्मृतियाँ वार-वार आकर विरह-व्यथा को प्रदीप्त कर देती हैं। इस समय की वेदना की मात्रा उस समय के सुख से द्विगुण है। उर्मिला को अपने सुखी वाल्य-काल की प्रथम-दर्शन की, मस्त यौवन-क्रीड़ा की याद वार-वार आती है और वह उन्मत्त हो जाती है! एक दिन की वात है—उर्मिला अलिन्द में खड़ी थी। रिमझिम वूँदें पड़ रही थीं; घटा छाई हुई थी; चारों ओर केतकी का गन्ध गमक रहा था, झिल्ली की झनकार में सङ्गीत फूट रहा था। तभी—

करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चञ्चला थी चमकी, घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई ! मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी !

लक्ष्मण का चुपचाप कोने में खड़े होकर प्रेयसी की क्रीड़ा का आनन्द लेना—उसका चौंक कर प्रियतम को देखना, लज्जित होना, और अन्त में उनकी छाती में मुँह छिपा लेना—यह सब कितना मधुर है—कितना सत्य है। ऐसे ही सुख की बातें आज उसके मन में हलचल मचा देती हैं—लेकिन अब तो—

विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है।

यहाँ केवल मानसिक उद्वेग ही नहीं है—शारीरिक काम-दशा का भी संकेत है। उर्मिला नव-युवती है। उसने जीवन का शारीरिक और मानसिक सुख भोगा है—वह दोनों का मूल्य जानती है। अब भी कभी उसका यौवन मचलने लगता है तो वह उसको बड़े दुलार से समझाती है—

मेरे चपल यौवन-बाल
अचल अञ्चल में पड़ा सो, मचल कर मत साल।

कभी कामदेव पुष्पबाण लिए उस पर आक्रमण करता है। बेचारी दीन होकर प्रार्थना करती है—

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।

परन्तु वह फिर भी धृष्टता करता है तो सखी क्रुद्ध हो जाती है और उसको आह्वान करती है—

सच हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह—यह हर-नेत्र निहारो।
धन्य है यह आत्म-विश्वास।

यही भावनाएँ तीव्र होती-होती वियोगिनी को अर्ध-मूर्छित कर देती हैं और वह अर्ध-विस्मृति की अवस्था में न जाने क्या प्रलाप करने लगती है। इस प्रकार की अर्ध-विस्मृत-अवस्था में विरह-वर्णन साकेत में ही सबसे प्रथम मिलता है। संस्कृत के कुछ ग्रन्थों में इसका आभास अवश्य है। उत्तर रामचरित में राम के विलाप में इसका संकेत है, पुरूरवा का भी उन्माद कुछ ऐसा ही है। तुलसी के राम

पिता वचन परिहरतेऊ सोऊ

ऐसी दशा में कहते हैं—परन्तु उर्मिला की इस अर्ध-विस्मृति के पीछे इस युग के मनोविज्ञान की अन्तर्धारा है। उसमें रूढ़ि का पालन नहीं, स्वाभाविक स्थिति का चित्रण है! वह स्वयं चौंक पड़ती है—और फिर सखी से कहती है 'क्या क्षण-क्षण में चौंक रही मैं।'

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी 'आओ'।
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर 'जाओ'।

उसकी मनोदशा में इस समय एक प्रकार की जटिलता है। वहाँ आदर्श और कामना के बीच में संघर्ष है। आदर्श कहता है 'जाओ' भाव कहता है 'आओ'। इसी द्वन्द्व की अन्तर्धारा उसकी अर्ध विस्मृति के मूल में बह रही है। भावावेश में प्रायः वह अनुभव करती है—

अरण्य से है प्रिय लौट आते
छिपे छिपे आकर देखते सभी,
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते।

इस समय तो उसे वास्तविकता का परिज्ञान है परन्तु अनुभूति की तीव्रता कुछ समय में ही उसकी संज्ञा को भी

नष्ट कर देती है और वियोगिनी तन्मय होकर कह उठती है—

सुभग आगए, कान्त आगए।

× × ×

त्वरित आरती ला उतार लूँ,
पद दृगम्बु से मैं पखार लूँ!
चरण हैं भरे देख धूल से,
विरह-सिन्धु में प्राप्त कूल-से।
उदित उर्मिला-भाग्य धन्य है,
अब कृती कहाँ कौन अन्य है!

परन्तु लक्ष्मण की मूर्ति स्थिर है—वह आगे बढ़ती ही नहीं। न सही, उर्मिला की भावनाओं का तार बढ़ता जाता है वह कहती है—'प्रिय, प्रविष्ट हो, द्वार मुक्त है।' फिर भी वह मूर्ति अचल रहती है, तो उसे अपनी हीनता का ध्यान आता है। 'तुम महान् हो और हीन मैं!' लेकिन क्या हुआ?—

तुम बड़े, बने और भी बड़े
तदपि उर्मिला भाग में पड़े।

यहाँ तक हुआ भावावेश, 'आओ' की प्रेरणा! अब आदर्श अथवा 'जाओ' की प्रेरणा का चित्र देखिये। उर्मिला लक्ष्मण को अकेला ही देख चौंक पड़ती है—

प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
वह नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे,
हम गिरे अहो! तो गिरे, गिरे।

× × ×

अथवा

दयित, क्या आर्त जान के,
भर दिया तुम्हें भेज आप ही,
वह हुआ मुक्त और ताप ही।

च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा
धिक ! वृथा हुई उर्मिला-व्यथा

परन्तु वह मूर्ति वहीं खड़ी है। उर्मिला कहती है 'जाओ'। रन्तु लक्ष्मण तो वहीं अड़े हैं। मानिनी मुँह फेर लेती है परन्तु सरी ओर भी लक्ष्मण, तीसरी ओर भी लक्ष्मण, इधर भी, धर भी, सभी कहीं लक्ष्मण दिखाई देते हैं—

जिधर पीठ दे दीठ फेरती,
उधर मैं तुम्हें ढीठ, हेरती।

यह उन्माद की चरम सीमा है। उर्मिला पागल होकर सर पर हाथ मारती है—

तुम मिलो मुझे धर्म छोड़ के,
फिर मरूं न क्यों मुण्ड फोड़ के।

सखी कहती है 'यह उन्माद है, भ्रान्ति है।' उर्मिला होश में आती है, और जिस प्रकार निद्रा का उचट जाना दुःस्वप्न से एक साथ रक्षा करता है, उसी प्रकार उर्मिला की यह संज्ञाप्राप्ति भी उसे दुर्भावना से मुक्त करती है। अब उसे वास्तविकता का ज्ञान होता है—और उसके साथ ही अपने कटु-वाक्यों का स्मरण। तुरन्त ही हृदय में ग्लानि का सञ्चार हो उठता है—

अधम उर्मिले, हाय निर्दया !
पतित नाथ हैं ? तू सदाशया।

वियोगिनी विह्वल हो उठती है—

मर ससंशया क्यों न तू मरी !

उर्मिला फिर आत्म-विस्मृत हो जाती है, परन्तु अबकी बार उसके मन में आदर्श-जन्य गौरव और प्रेम-जन्य उत्कण्ठा का सङ्घर्ष नहीं है। इस समय तो ग्लानि और उत्कण्ठा (जो सभी

दशाओं में बनी रहती है) का मिश्रण है। "अवधि बीत गई लक्ष्मण आगए; परन्तु उसके वचनों से क्षुब्ध होकर लौटे जा रहे हैं।" वह अनुभव करती है मानों लक्ष्मण कह रहे हों—

तुम अधीर हो तुच्छ ताप में,
रह सकी नहीं आप आप में।
विदित क्या तुम्हें, देवि, क्या हुआ,

\+ \+ \+

अधिक क्या कहूँ, रो सका न मैं,
वचन ये पुरस्कार में मिले,
अहह उर्मिले, हाय उर्मिले।

बस— प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं? भला!
मत छुओ मुझे, लौट मैं चला।

सुलक्षणा उन्हें रोकनी है, परन्तु वे जाना ही चाहते हैं—

हट सुलक्षणे, रोक तू न यों,
पतित मैं, मुझे टोक तू न यों,
विवश लक्ष्...'नहीं उर्मिला हहा!'

उर्मिला की भावनाओं का तार बढ़ता ही जाता था, परन्तु 'लक्ष्मण' शब्द पर आकर उसकी अनभ्यस्त वाणी रुद्ध हो जाती है। इस नाम का उच्चारण करने की उसको आदत नहीं है! अन्त में फिर संज्ञा प्राप्त होती—और वह चीख उठती है—

किधर उर्मिला? आलि, क्या कहा?

स्वयं पाठक इस विरह-वर्णन की अगाध गम्भीरता पर विचार करें।

उर्मिला के विरह-वर्णन में आदर्श का गौरव है और स्वार्थ का निषेध (यद्यपि स्वाभिमान का लोप नहीं)—

तुझे भूल कर ही विधु-वन में विचरें मेरे नाथ!

मुझे न भूले उनका ध्यान !

उसका आदर्श बड़ा ऊँचा है—सती और लक्ष्मी से भी ऊँचा,

डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,

जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।

उर्मिला का यह त्याग प्रिय-प्रवास की राधा का स्मरण दिलाता है ! राधा धीरे धीरे अपने स्वार्थों पर विजय प्राप्त करती हुई, अपनी आत्मा को विश्वात्मा में मिला देती हैं—उनका अपना व्यक्तित्व विश्व में रम जाता है—उनकी उदारता यहाँ तक बढ़ जाती है—

प्यारे-जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें।

\+ + + +

मेरे जी में अनुपम-महा विश्व का प्रेम जागा।

मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश में है।

यह आदर्श वास्तव में ऊँचा है—उर्मिला के आदर्श से भी ऊँचा ! परन्तु उर्मिला का विरह सावधि था, अतः शान्त था, उसमें आशा थी, इसलिए कामना का निषेध नहीं हो सका ! जहाँ तक सहन करने का प्रश्न है वह सती और लक्ष्मी को भी पीछे छोड़ देती है; परन्तु 'गेह चाहे न आवें' उसके लिए असह्य है, अनिष्ट है ! उसे मिलना है—इसी कारण उसको अपना व्यक्तित्व (जिसका एक प्रधान अंश यौवन भी है) भूला नहीं है। लेकिन इस यौवन का मूल्य उसके लिए नहीं है वह तो प्रियतम की वस्तु है।

मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,

भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

उन्हीं के लिए बेचारी ने चौदह वर्ष तक उसको सहेजने का प्रयत्न किया। आज मिलन-के-समय-उसे न पाकर विरहिणी का

उक्त प्रसङ्गों में अधिकांश का विवेचन हम साकेत के गार्हस्थ चित्रों और उसकी वस्तु संघटना का परिचय देते हुये कर आये हैं। इस अध्याय में हमें दशरथ-मरण, भरत-आगमन, चित्रकूट-सम्मिलन, साकेत वासियों की रण-सज्जा, युद्ध एवं कुछ भावुक स्थलों की ओर निर्देश करना है।

दशरथ की कहानी बड़ी करुण है। वृद्धावस्था में दो पुत्रों का वियोग जिसके मूल में अन्याय और अन्त में अनिष्ट हो उनको असह्य हो गया। वे वचनों के पाश में जकड़ गये, उनकी आत्मा वन्दिनी होकर छटपटा रही थी। उनको स्वयं अपने कृत्य पर ग्लानि थी तभी तो लक्ष्मण के 'अरुन्तुद वाक्य' भी उन्हें सुखकर प्रतीत हुये और कहने लगे—

मुझे बन्दी बनाकर वीरता से
करो अभिषेक-साधन धीरता से।

कितनी विषम आत्मग्लानि है! परन्तु राम चले ही गये। राजा ने सुमन्त्र को साथ भेजा, उनको आशा थी कि कदाचित ये लौट आवें—परन्तु सुमन्त्र अकेले ही लौटे—

'कर में चाँदी की रास लिये, निज जीवन का उपहास किये;
होकर मानों परतन्त्र गिरे, सूना रथ लिए सुमन्त्र फिरे।'

सभी ने उन्हें देखा, और देख कर वास्तविकता को जान लिया। फिर भी मनुष्य सत्य से डरता है—उसके प्रति आँख बन्द करके चलना चाहता है अतः—

उत्तर में 'नहीं' सुनें न कहीं
इसलिये 'राम लौटे कि नहीं'
यह पूछ न सके सचिववर से
पुरवासी मौन रहे डर से!

सिंह द्वार पर कर कुछ ही क्षणों में सुमन्त्र राजा के सम्मुख उपस्थित हो गए। राजा पूछते हैं 'राम नहीं लौटे ?' सुमन्त्र चुप रहते हैं, उत्तर ही क्या दें ?

बोले नृप 'राम नहीं लौटे'
गूँजा सब धाम 'नहीं लौटे।'

परन्तु—

यद्यपि सुमन्त्र ने कुछ न कहा,
प्रतिनाद तदपि नीरव न रहा !

उक्त प्रसङ्ग में भावना का रङ्ग धीरे-धीरे गाढ़ा किया गया है। 'गूँजा सब धाम नहीं लौटे।' में आकर आवेग एक साथ गूँज उठा है। राजा के आवेश में विस्तार आ गया है। दशरथ की ग्लानि उमड़ उठती है। उनका उद्गार मार्मिक है—

गृह-योग्य बने हैं वनस्पृही,
वन योग्य हाय ! हम बने गृही।

विधाता का व्यतिक्रम अद्भुत है। एक बार फिर उन्हें वर-दान का प्रसंग याद आजाता है और वे कैकेयी के लिए कहते हैं—

कोई उससे जा कहे अभी,
ले, तेरे कण्टक टले सभी।

भूपति को जीवन भार हो गया और—

हे जीव चलो अब दिन बीते,
हा राम, राम लक्ष्मण सीते।

कह कर दीप-निर्वाण हो जाता है। अयोध्या में शोक का पारावार उमड़ उठता है। कौशल्या, सुमित्रा, सुमन्त्र आदि तो रोये ही, कैकेयी की अवस्था भी विचित्र हो गई—

रोना उसको उपहास हुआ,
निज कृत वैधव्य-विकास हुआ,
तब वह अपने से आप डरी।

यही शोक की अन्तिम अवस्था है—

ऊपर सुराङ्गनाएँ रोईं,
भू पर पुराङ्गनाएँ रोईं।

बस, भूपति पद का विच्छेद हो गया। "The King is dead" तो सत्य हो गया, किन्तु "Long live the King" किससे कहें ? राष्ट्र अनाथ हो गया !

भरत आगमन का प्रसङ्ग और भी अधिक मार्मिक है। भरत और शत्रुघ्न दोनों साकेत को लौट रहे हैं। दोनों की मुद्रा गम्भीर उदास—कदाचित शीघ्र यात्रा के कारण—

या शशी में ज्यों मही की म्लानि,
दूर भी विम्बित हुई गृह-ग्लानि ?

सचमुच ही भरत के हृदय पर एक छाया-सी पड़ती जाती है और उन्हें—

जान पड़ता है न जाकर आप,
मैं खिंचा जाता खिंचे ज्यों आप।

यह अवस्था मन की उदासी की ओर संकेत करती है ! आगे बढ़ते ही अयोध्या के क्रीड़ा क्षेत्र दृष्टिगत होते हैं, और भरत की आँखों के सामने अपने किशोर वय के दृश्य नाचने लगते हैं—

हँस मुझे नव हाथ से कुछ ठेल,
हय उड़ा कर, उछल आप समक्ष,
प्रथम लक्ष्मण ने धरा ध्वज-लक्ष।

परन्तु आज तो कुछ रङ्ग निराला है।

दीख पड़ते हैं न सादी आज, गज न लाते हैं निषादी आज।
फिर रही गायें रँभाती दूर, भागते हैं श्लथ-शिखण्ड मयूर।
पार्श्व से यह खिसकती-सी आप, जा रही सरयू बही चुपचाप॥

इस प्रकार भरत की ग्लानि को अङ्कित करने के लिए जिस वातावरण की सृष्टि की गई है, वह बड़ा उपयुक्त और व्यञ्जन-पूर्ण है। प्रत्येक वस्तु में आज निर्जीवता है, इसका संकेत कवि सरयू की अवस्था के द्वारा देता है जो पास ही चुपचाप खिसकती चली जा रही है। मानस के भरत को भी इस अवसर पर इसी प्रकार श्री-हीनता दिखाई थी—

श्रीहत सर, सरिता, बन बागा। नगर बिसेखि भयावनु लागा॥

शत्रुघ्न का विचार प्रवाह दूसरी ओर ही था—

घर पहुँच कर, कल्पना के साथ,
हो रहा था मैं सहर्ष सनाथ।
पूछते थे कुशल मानों तात,
प्रेम पूर्वक भेंटते थे भ्रात।
बढ़ रहा था जननियों का मोद,
हँस रही थीं भावियाँ सविनोद।
हो रहा था हर्ष, उत्सव, गान,
और सब का संग भोजन-पान।

शत्रुघ्न की यह सुख-संकुल विचार धारा आगामी विषाद के रंग को वैषम्य द्वारा गाढ़ा करती है। आशा जितनी बलवती और व्यापक होती है, उसके विफल होने पर निराशा भी उतनी ही भयंकर और दुस्सह हो जाती है, और शत्रुघ्न कह उठते हैं—

पर निरख अब दृश्य ये विपरीत,
हो उठा हूँ आर्य्य, मैं अति भीत।

जान पड़ता है, पिता सविशेष,
रुग्ण होकर पारहे है क्लेश।

अर्थात् भावी घटनाओं की प्रतिच्छाया पहले ही दृष्टिगत हो जाती है। शत्रुघ्न के सन्देह में यही रहस्य है—किन्तु भरत का संशय और भी आगे जाता है—

"रुग्ण ही हों तात हे भगवान्!"
भरत सिहरे शफर-वारि-समान।

दोनों भाई इन्हीं विचारों में मग्न थे कि साकेत-नगरी आ पहुँचती है। उसकी दशा भी विचित्र है। वहाँ सर्वत्र निस्तब्धता और शान्ति का राज्य है। पुरद्वार पर प्रहरी स्तब्ध खड़े हैं। उनकी मुद्रा गम्भीर विषाद से आक्रान्त है! उनकी अजीब हालत देख कर भरत की कुछ पूछने की हिम्मत ही नहीं होती—

प्रहरियों का मौन विनयाचार।
देख कर उनका गंभीर विषाद,
भरत पूछ सके न कुछ संवाद।

मानस में भी भरत का स्वागत कुछ ऐसा ही हुआ था—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवहिं जुहारहिं जाहिं।
भरत कुशल पूछि न सकहिं, भय विषादु मन माहिं॥

खैर, भरत आगे बढ़ते हैं—उनको देख कर पौरजन स्थान-स्थान पर एकत्र हो जाते हैं, और भरत पर आक्षेप करना चाहते हैं। परन्तु जब वे देखते हैं कि भरत निर्लेप हैं, तो उनका विद्रोह क्षण में विलीन हो जाता है।

झिमिट आते हैं जहाँ जो लोग, प्रकट कर कोई अकथ्य अभियोग,
मौन रहते हैं खड़े बेचैन, सिर झुका कर फिर उठाते हैं न।

× × × ×

चाहते थे जन-करें आक्षेप, दीखते थे पर भरत निर्लेप।
देख उनका मुख समक्ष समोह, भूल जाते थे सभी विद्रोह॥

भरत के पहुँचते ही—

"आ गये!" सहसा उठा यह नाद,
बढ़ गया अवरोध तक संवाद।

इस 'आ गये' में फिर कुछ विद्रोह का स्वर सुनाई देता है। दोनों भाई सिद्धार्थ का हाथ पकड़ कर शीघ्र ही उतर पड़ते हैं। सिद्धार्थ की मुद्रा देख कर भरत का संदेह और भी दृढ़ हो जाता है और वे पूछ उठते हैं—

हो गये तुम जीर्ण ऐसे तात!
मैं सुनूँगा क्या भयानक बात?

अब शुद्धान्त का द्वार आ गया और देहली के पार एक पग रखते ही,

"हा पितः!" सहसा चिहुँक, चीत्कार,
गिर पड़े सुकुमार भरत कुमार।

इतने में ही कैकेयी मन्थरा के साथ आकर उन पर हाथ फेरने लगती है और थोड़ी देर में ही पिता की मृत्यु और राम के वन-गमन की सूचना उन्हें मिल जाती है! माता के मुख से यह सुन कर कि—

वन गये वे अनुज-सीता-युक्त।

भरत चौंक पड़ते हैं—

तो सँभालेगा हमें अब कौन?

भरत का सरल हृदय स्वभावतः यही सोचता है कि राम शोक-विमूढ़ होकर विरक्त हो गए और वे कह उठते हैं—

आर्य का औदार्य यह अवलोक,
सहम-सा मेरा गया पितृ-शोक!

महाकवि की दृष्टि मानव-मनोदर्शी के गहन स्वरों में बड़ी दूर तक पहुँचती है—उसमें उतनी ही सूक्ष्म-ग्राहकता है जितना विस्तार। उधर तुरन्त ही भरत की दृष्टि मन्थरा पर पड़ती है जो खड़ी-खड़ी हँस रही थी। भरत अधीर हो उठे और बोले—

भेद है इसमें निहित कुछ गूढ़,
माँ कहो, मैं हो रहा हूँ मूढ़।

कैकेयी भी हृदय की समस्त संकुल भाव-राशि को दबा कर एक साथ निराशा-निर्भय होकर, स्पष्टतया अपने कृत्य को स्वीकार कर लेती है। भरत हतबोध हो जाते हैं, शत्रुघ्न होठों को चबाते हुए पैर पटकने लगते हैं, परन्तु वैर किस से लें ? इसी समय कैकेयी का वात्सल्य पागल होकर भरत की ओर दौड़ता है। भरत पहिले तो क्रोधाभिभूत होकर माता से कटु वाक्य कहते हैं (जो हमारी सम्मति में उनके चरित्र-गौरव के अनुकूल नहीं) परन्तु शीघ्र ही उनका स्वभाव-गत सत् उस क्षणिक तमस पर विजय प्राप्त कर लेता है और क्रोध ग्लानि में परिणत हो जाता है। इस समय के उनके उद्गार मर्म-भेदी हैं क्योंकि उनकी ग्लानि गहरी है। कैकेयी जब मातृत्व की दुहाई देती है तो भरत कहते हैं—

सब बचाती हैं सुतों के गात्र, किन्तु देती हैं डिठौना मात्र
नील से मुँह पोत मेरा सर्व, कर रही वात्सल्य का तू गर्व!

भरत का आवेश और बढ़ता है और वे फूट उठते हैं—

खर मँगा, वाहन वही अनुरूप,
देख लें सब-है यही वह भूप।

आज मैं हूँ कौसलाधिप धन्य,
गा, विरुद गा, कौन मुझसा अन्य ?

उक्त उद्गार मनन करने योग्य हैं। ग्लानि का जन्म अपनी बुराई के अनुभव से होता है; यह अनुभव जितना ही गहन और तीव्रतर होता जायगा, ग्लानि की मात्रा भी उतनी ही बढ़ती जायगी। जब अपना अस्तित्व अपने को ही असह्य हो जाए, तब ग्लानि की चरमावस्था समझनी चाहिए। दशरथ की मृत्यु के समय कैकेयी अपने से ही डरने लगी थी। भरत की उक्तियों में यही सत्य निहित है। उनके वचनों की वक्रता (irony) भाव को और भी तीव्र कर देती है—

गा, विरुद गा, कौन मुझसा अन्य ?

अन्त में ग्लानि के उद्गारों और कटूक्तियों से भी भरत को सन्तोष नहीं होता। वह तड़प जाता है, विवश हो जाता है—करे ही क्या ? अतः

रो दिया, हो मौन राजकुमार।

आवेश की अन्तिम परिणति आँसू ही है। भरत की मनोदशा का यह चित्र 'मानस' के चित्र का प्रतिद्वन्द्वी है। इसका व्याख्यान करने के लिए आचार्य शुक्लजी की लेखनी अपेक्षित है। हमारी वाणी असमर्थ है।

इसके उपरान्त चित्रकूट-मिलन है। राम-कथा में इस प्रसङ्ग का बड़ा माहात्म्य है। तुलसी ने इस 'भायप मिलन' को अमर कर दिया है। साकेत में भी इस प्रसङ्ग का महत्व उर्मिला विषयक कुछ स्थलों को छोड़, और सबसे अधिक है। साकेत की दो अन्यतम विभूतियाँ हैं ही उर्मिला और कैकेयी।

चित्रकूट में हमें सबसे पहिले वनवासी सीता की मधुर झाँकी मिलती है। वे पर्ण-कुटी के विरछे सींच रही हैं और राम

उन सीता को, अपनी मूर्तिमयी माया को—देखते हुए ऐसा अनुभव कर रहे हैं, मानो योगी के सम्मुख अटल ज्योति जग रही हो। कवि सीता की छवि का अङ्कन करने की इच्छा से आगे बढ़ता है; परन्तु उसकी भक्ति उसके सम्मुख व्यवधान खड़ा कर देती है। इसीलिए वह एक ओर राम के स्वगत भावों का सहारा और दूसरी ओर सीता के मातृत्व की शरण लेकर चित्र-रचना प्रारम्भ करता है—

पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसती,
तव नख-ज्योति मिस मृदुल अँगुलियाँ हँसती।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
तव अरुण एड़ियों से सुहाग-सा झड़ता!

उपरोक्त शृङ्गार-वर्णन में आदर्शवादी कवि की दृष्टि चरणों पर ही गढ़ी रहती है। वहीं पर उसने सौन्दर्य का प्रतिफलन किया है। उसका यह चित्र अत्यन्त रूप-रञ्जित और प्रसन्न है।

वनवासी दम्पति चित्रकूट पर बैठे हुए अपने सुख में मग्न थे। इतने में वन अस्फुट कोलाहल से आपूर्ण हो गया। लक्ष्मण ने आकर भरत-आगमन की सूचना दी और एक साँस में राम को अपना निश्चय सुना दिया! सीता को भी शङ्का हुई। परन्तु राम ने उन्हें समझाया 'भद्रे न भरत भी उसे (राज्य को) छोड़ आये हों।' बड़ी कठिनता से लक्ष्मण शान्त हुए।

इतने में ही— वह देखो वन के अन्तराल से निकले,
मानो दो तारे क्षितिज-जाल से निकले।

राम और भरत का चित्रकूट-मिलन प्रेम और आवेग का मिलन है। भरत आकर राम के चरणों पर गिरकर रोने लगते हैं। वे कुछ बोलते नहीं, उनके हृदय में भावों का तूफान उठ रहा था, इसलिए कहते भी क्या? "When the

heart is full, the tongue is mute" राम उन्हें खींच कर हृदय से लगा लेते हैं—

'रोकर रज में लोटो न भरत, ओ भाई !'

भरत का आवेश बन्धन तोड़ देता है—

'हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है।'

और वे राम को उलाहना देते हुए कहते हैं—

उस जड़ जननी का विकृत वचन तो पाला
तुमने इस जन की ओर न देखा-भाला !

राम भरत के इस स्नेह उपालम्भ का उत्तर ही क्या दें ? वे निरुत्तर हो जाते हैं ! रात को चित्रकूट सभा जुड़ी। राम ने प्रश्न किया—

'हे भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना।' प्रश्न भरत के हृदय में बाण सदृश लगता है। उनकी ग्लानि एक बार फिर उमड़ उठती है, और वे व्यञ्जना की सहायता से उसको प्रकट करने लगते हैं—

"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा।
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही स्वयं आज मुख फेरा,
हे आर्य, बतादो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?"

रसज्ञ पाठक विचार करें यहाँ ग्लानि, करुणा, स्नेह, दैन्य, और आवेश का सम्मिलित प्रवाह बह रहा है। भरत की परिस्थिति बड़ी दयनीय है! उनका हृदय कचोट खाकर तड़प उठता है, ग्लानि का दर्शन उनको बेचैन कर देता है। कवि भरत के अन्तर में अपने अन्तर को ढाल कर एकाकार हो गया है। ऐसे भाव-प्रवण चित्रों के अङ्कन में सब से बड़ी आवश्यकता है वातावरण के सृजन की। कवि ने यह कार्य अद्‌भुत कौशल के साथ किया है। भरत अभीप्सित शब्द को पकड़ लेते हैं और उसकी पुनरावृत्ति उनके भावावेश को तरल बना देती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों भरत अभीप्सित शब्द को पकड़ कर आवेग के आवर्त में चक्कर लगा रहे हों, और वह डूबता उतराता हुआ उन की शक्ति को विफल कर रहा हो। अन्त में 'हे आर्य बतादो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।' कह कर वे विवश हो प्रवाह में वह जाते हैं। इस समय राम ही उन्हें उबारते हैं। उन का एक वाक्य इसके लिए काफी होता है—

> "उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
> जन कर जननी ही जान न पाई जिसको !"

राम के ये शब्द भरत को ही नहीं कैकेयी को भी अवलम्ब प्रदान करते हैं, और उसे भी उनके आश्रय से अपना आशय प्रकट करने का अवसर मिल जाता है। वह एक साथ पुकार उठती है—'यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।' ये शब्द सभी को चकित कर देते हैं। रानी की इस समय क्या दशा थी ? कवि की सवाक् तूलिका ने उसकी भाव-भङ्गी और श्रोताओं के विस्मय का बड़ा ही सजीव चित्र अङ्कित किया है—

> सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
> वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।

बैठी थी अचल तथापि असंख्य-तरङ्गा,
यह सिंही अब थी हहा! गोमुखी गङ्गा॥

अब वह अपना अनुरोध आरम्भ करती है—

हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुम ने स्वयं अभी यह माना।

और अगर—

यह सच है तो अब लौट चलो घर भैया,

रानी के शब्दों में यहाँ भी दैन्य नहीं है। यहाँ भी वह मातृत्व का गर्व करती है। उसकी युक्ति भी प्रबल है। 'यदि यह सत्य है कि मैं भरत को न जान सकी, तो मेरा अपराध अज्ञान जन्य है—विना जाने किया हुआ है। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारी माता हूँ, माता का अपराध तो वैसे भी किसी अंश तक क्षम्य होता है। उसका न्याय-विचार पक्षपात पूर्ण होना ही चाहिए।' उसके भावों का प्रवाह अस्थिर हो उठा है, और वह आगे बढ़ती है—

दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर, अबला-जन के लिए कौन-सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ!

आवेश यहाँ अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच गया है। रानी की शपथ में निराशा की आग है। कैकेयी की सब से बड़ी विभूति और उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी है। उसका मातृत्व उसके लिए 'तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ' कहना गहनतम मानसिक व्यथा का परिचायक है। माता सब कुछ सह सकती है, परन्तु पुत्र की मृत्यु की चर्चा उसके लिए असह्य

है। मातृत्व की अन्तिम परीक्षा आज भी यही है। साधारण माता भी इस परीक्षा से बचने का प्रयत्न करती है। कैकेयी उन्मत्त हो रही है, वह कहती ही जाती है—'ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुनलो।' उसका आवेश अवस्था, बुद्धि, धैर्य, मर्यादा सभी को लाँघ कर वह निकला है। उक्त शपथ वह जान बूझकर खाती है। इसके दो कारण हैं—(१) भरत के चरित्र-गौरव की रक्षा, (२) अपने हृदय को दण्ड देने का विचार। एक ओर वह भरत की कलङ्क-कालिमा को धो डालने के लिए व्यग्र है तो दूसरी ओर उसे अपने पहाड़-से पाप का पूर्ण अभिज्ञान है—वह उसी के लिए अनुताप करना चाहती है।""सभा में नीरवता छाई हुई है। 'रात्रि अन्धकार-गहन और निस्तब्ध है, शशि और नक्षत्र ओस टपका रहे हैं। उस निस्तब्धता में रानी उल्का के समान सभा को दीप्त करती हुई सभी में भय, विस्मय और खेद भर रही है।' चित्र बोल उठा है। यहाँ कवि ने बाह्य वातावरण के साथ सभा की मनोदशा का तादात्म्य दिखला कर भावों की गति को और भी तीव्र कर दिया है। गहरे काले अँधेरे में उन्मादिनी रानी उल्का के समान चमक रही है, उधर उसके ज्वलन्त शब्द सभा के हृदय में घनीभूत अन्धकार को चीरते हुए, भय और विस्मय का सञ्चार कर रहे हैं। भावों की गहनता और परिस्थिति की गम्भीरता द्विगुण हो जाती है।

रानी फिर अपना वक्तव्य प्रारम्भ करती है; वह किसी को दोष नहीं देती, न भाग्य को, न देवताओं को, और मन्थरा को भी नहीं। वह तो स्पष्ट सभी अपराध अपने ऊपर लेती है 'मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।' इसीलिए वह उसे जलाना चाहती है। इसी के अन्दर तो वे ज्वलित भाव जागे थे। एक बार पुनः उसका मातृत्व उभर आता है और वह सोचने लगती

है 'कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र, क्या तेरा ?' किन्तु शीघ्र ही मन में यह विचार आता है 'पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा' बस माता का हृदय निराश्रित हो जाता है और राम की दुहाई करने लगता है।

भावों का यह तारतम्य फिर उसकी ग्लानि को उभार देता है। उसने आज मातृत्व को भी तो लांछित कर दिया—कितनी विषमता है—

कहते आते थे यही अभी नरदेही,
माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भलेही।
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'

वह अपने से घृणा करने लगती है। अपने वंश और अपनी करतूत की तुलना का भाव मन में आता है और उसके साथ ही अपने कलुषित भविष्य का! परन्तु वह उसे सहने को तैयार है, उसके अपराध की कालिमा इसी प्रकार धुल सकेगी। वह जानती है और चाहती भी है—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'

बस हद हो गई, कैकेयी की व्यथा राम को असह्य हो जाती है, और वे उसी प्रवाह में बहते हुये माता का गुणगान कर निकलते हैं—

"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है, जना भरत सा भाई।"

सभा भी उस वेग में स्थिर न रह सकी—और

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई॥"

ये पंक्तियाँ साधारण प्रतीत होती हैं; परन्तु वास्तव में इससे पता चलता है कि कवि में मानव-हृदय के रहस्यों में प्रवेश करने की अतुल क्षमता है। इस समय रानी की परिखेदना और ग्लानि चरमावस्था को पहुँच चुकी थी। उसका परितोष करना साधारणतया असम्भव-सा था। परन्तु राम उसकी दुर्बलता को जानते हैं, अतः इधर-उधर मरहम पट्टी न करके ठीक उसके घाव का ही उपचार करते हैं। इसीलिए उनके शब्दों में उसके मातृत्व को फिर से उद्दीप्त करने की सफल चेष्टा करते है। मैं समझता हूँ इस परिस्थिति में कैकेयी को इन शब्दों से बढ़ कर और किसी बात से शान्ति नहीं मिल सकती थी—इनका प्रभाव अनिवार्य था। तत्काल ही वह चाहे न प्रकट हुआ हो, परन्तु हम देखते हैं कि अनेकों सकरुण उद्‌गीतियों के अनन्तर रानी स्वयं कहती है—

मैं रहूँ पंकिला, पद्म-कोष है मेरा।

आगे उसकी दयनीयता क्षण भर के लिए उसे परवश कर देती है, और उसके मुँह से निकल जाता है—

मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।

परन्तु तुरन्त ही उसका स्वाभिमान प्रबुद्ध हो जाता है—

हा दया! हन्त वह घृणा! अहह वह करुणा!
सह सकती हूँ चिर नरक, सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।

अन्त में रानी की युक्तियाँ हैं जिन में भाव और तर्क का

अद्भुत सम्मिश्रण है। उनके तर्क में भावुकता की पुकार है और भावुकता में तर्क का प्रभाव। वे सभी साकेत की भावराशि के अद्भुत उदाहरण हैं—

१—मैंने इसके* ही लिये तुम्हें वन भेजा,
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों।
२—मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम।
३—छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,
बल दिया उसी ने भूल मान लेने का।
अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही कैकेयी, वही राम तुम मेरे।
४—क्या स्वाभिमान रखती न कैकेयी रानी ?
मैं सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।
पर महा दीन हो गया आज मन मेरा।
भावज्ञ, सहेजो तुम्हीं भाव-धन मेरा।
५—हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो।

ये सभी युक्तियाँ प्रबल हैं—परन्तु उसके पास इन सभी से प्रबलतर एक और युक्ति है—वह कहती है—

आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले ले कर
समझावें तुम को अतुल युक्तियाँ देकर।
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा।

---

* भरत के।

कहने की आवश्यकता नहीं, इस अचूक युक्ति के सम्मुख एक बार राम भी विचलित हो उठे होंगे।

चित्रकूट में दुख और सुख के मिश्रित आवेग का एक सागर उमड़ उठा है जिसमें कैकेयी का कलंक कच्चे रङ्ग के समान बह गया है। वास्तव में साकेत के इस प्रसङ्ग का गौरव अक्षय्य है। कवि की भावुकता की सूक्ष्म-ग्राहिणी शक्ति, प्रवणता, उसका विस्तृत अधिकार और प्रवाह अद्भुत है। उसकी मूल-प्रेरणा है उपेक्षित-घृणित के प्रति सहानुभूति जिसका उद्भव महान् आत्माओं में ही सम्भव है। साथ ही यहाँ हमें मानव-मनोदशा का गम्भीर अध्ययन, उसके पल-पल परिवर्तित सङ्कल्प-विकल्पों की सूक्ष्म पकड़ मिलती है, और मिलती है मौलिक सृजन-क्षमता। कैकेयी का चरित्र उज्ज्वल हो गया है, वह अब 'कुटिल कैकेयी' नहीं रही! वह आज शुभ्रवसना धौत-केशिनी माता है जिसका वात्सल्य अनुकरणीय है।

साकेत-वासियों की रण-सज्जा का वर्णन भी भावों की दृष्टि से बड़ा सशक्त और सवेग है। वह भी कवि की मौलिक प्रसूति है। वास्तव में जैसा कि मैं पहिले निवेदन कर चुका हूँ, कवि को यह असह्य हो उठा कि राम पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़े, सीता को नीच कौणप चुरा ले जाये, लक्ष्मण शक्ति-आहत होकर म्रियमाण हो जाएँ और उनके प्राण-प्रिय भाई एवं उनकी 'प्रकृति' प्रजाजन निष्क्रिय और निश्चिन्त बैठे रहें। उसके सम्मुख यह संस्कृति की मर्यादा का प्रश्न बन गया है। सीता के सम्मान पर आक्रमण देश की संस्कृति पर आक्रमण था। अतः इस स्थल पर कवि का राष्ट्रीय उत्साह मुखर हो उठा है।

हनुमान के चले जाने पर भरत और शत्रुघ्न कुछ देर के

लिए मति-मूढ़ हो गए। परन्तु निराशा के अन्तिम स्पर्श में अग्नि होती है। भरत का दुःख दैन्य इस बार एक साथ जल उठा! उसके हृदय में उत्साह की विद्युत चमक उठी और वह कहने लगा:—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन में,
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके—
अपने मिथ्या भरत नाम को नाम न धरके!

× × ×

अनुज, मुझे रिपु-रक्त चाहिए, डूब मरूँ मैं!
मेंटूँ अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा,
उठो, इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा।

आज 'जड़ भरत' का उत्साह देर नहीं सह सकता। वह आतुर है, अधीर है। उसे किसी की बात सुनने का भी अवकाश नहीं है। सेना के लिए भी वह नहीं रुक सकता।

पीछे आता रहे राज-मण्डल दल बल से,

× × ×

सजे अभी साकेत, बजे हाँ, जय का डंका,
रह न जाय अब कहीं किसी रावण की लंका!

× × ×

माताओं से माँग विदा मेरी भी लेना।

ग्लानि-प्रेरित उत्साह का कितना भव्य चित्र है। उत्साह की सजीवता के ऐसे गतिमय चित्र हिन्दी में अनेक नहीं मिलेंगे। भरत के भाव और उनके साथ उसके शब्द दौड़े चले जा रहे हैं। उनमें बिजली की गति है। उनका वेग अप्रतिहत है।

उधर अन्तःपुर में यह वृत्तान्त पहिले ही घूम गया। सुमित्रा और कैकेयी का क्षत्रियत्व भड़क उठा। उनका उत्साह अपूर्व है। इधर उर्मिला के अन्तर की वीर-वधू भी जागृत होगई। वह कातर नहीं है। उसको लक्ष्मण की कुशलता का निश्चय है—'जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ!' सीता के लिए भी उसे सोच नहीं है। वे तो लंका के लिये बिजली के समान हैं—

नीरव विद्युल्लता आज लंका पर टूटी।

यह सब कुछ तो अन्तःपुर तक ही सीमित था। 'अभी तक नगरी तो क्षणदा-छाया में निस्तब्ध ही पड़ी हुई थी। बस, शत्रुघ्न ने ध्वनि-संकेत करते हुए शंख फूँक दिया। उधर भरत के शंखनाद ने उसका प्रत्युत्तर दिया। अब शंख-ध्वनियाँ असंख्य हो गईं—और

घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी।
काँप उठा आकाश, चौंक कर जगती जागी,
छिपी क्षितिज में कहीं, सभय निद्रा उठ भागी,
उठी क्षुब्ध-सी अहा! अयोध्या की नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता-पत्ता।

सोते हुए वीर चौंक कर जगने लगे। क्षण भर में उनके भावों की गति बदल गई—

प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-वधू-जन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे।

यही उत्साह युद्ध में जाकर सक्रिय हो जाता है। देखिए लक्ष्मण-मेघनाद का द्वन्द्व-युद्ध हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि—

होकर मानो एक प्राण दोनों भट-भूषण,
दो देहों को मान रहे थे निज-निज दूषण।

उत्साह की अद्भुत व्यञ्जना है—सर्वथा नवीन और मौलिक। यह वीरता की अन्तिम अवस्था है। दोनों वीरों का व्यक्तित्व अन्तर्हित हो गया है—उनकी वीरात्मायें भिड़कर एक हो गई हैं। शरीर तो एक प्रकार से विघ्न डाल रहे हैं—इसीलिए दोनों वीर उनसे मुक्त होना चाहते हैं। इस युद्ध का अन्त भी बड़ा मार्मिक है। लक्ष्मण अन्तिम प्रहार करते हैं—इस समय की उनकी दर्पोक्ति में दिव्य सात्विक ओज है—धर्म की दुहाई है—

यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना,
तो बस अब तू सँभल बाण यह मेरा छूटा,
रावण का वह पाप-पूर्ण हाटक-घट फूटा।

बस—

हुआ सूर्य सा अस्त इन्द्रजित लङ्कापुर का।

इसी उत्साह का एक और भव्य चित्र हमें लक्ष्मण-शक्ति के उपरान्त राम के आवेग में मिलता है! राम यहाँ विलाप नहीं करते वरन् उनका शोक-द्रव उत्साह की अग्नि में घृत की आहुति का कार्य करता है। इस चित्र की व्याख्या कथावस्तु-प्रसङ्ग में हो चुकी है। यहाँ वीर और रौद्र का सिन्धु नाद करुणा के सागर में मिल जाता है! वास्तव में इस अतिशय भाव-पूर्ण क्षण का सृजन करके गुप्तजी ने अपना स्थान स्रष्टा कवियों में अमर कर लिया है।

साकेत में साधारण युद्ध का वर्णन भी बड़ा सजीव है। उसमें शब्दों की तड़ातड़ इतनी नहीं है जितना उत्साह का वेग। यद्यपि शब्दों की ध्वनि में भी भैरवनाद के अनुरूप ही ओज है।

अग्र-पंक्ति का पतन जिधर होता जैसे ही,
वह पीछे की पंक्ति पूर्ति करती वैसे ही।
दो धारायें उमड़-उमड़ सम्मुख टकरातीं।
उठती होकर एक और गिरती चकरातीं।

साथ ही—

दल बादल भिड़ गये-धरा धँस चली चमक से,
भड़क उठा त्तय, क्रणक तड़क से चमक-दमक से।

की कड़क-तड़क भी दर्शनीय है! धीरे-धीरे उसमें वीभत्सता आ जाती है।

ताली देकर नाच रहे थे रुद्र कपाली।
व्रण माला थी बनी जपा-फूलों की डाली।
रण-चण्डी पर चढ़ी चढ़ी काली मतवाली।

परम्परा का निर्वाह भी वैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है!

विज्ञ पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि गार्हस्थ-चित्र, विरह वर्णन और भाव पूर्ण स्थल इन तीनों परिच्छेदों में मैंने साकेत में अभिव्यक्त कवि की भावुकता का ही विवेचन करने का प्रयत्न किया है। भावुकता की परीक्षा के लिये तीन बातें द्रष्टव्य हैं (१) विस्तार, (२) तीव्रता, (३) सूक्ष्मता। अर्थात् हमें यह देखना चाहिये कि कवि का भाव-क्षेत्र कितना विस्तृत है, उसके भावों में कितनी तीव्रता है और उनके अन्तर में प्रवेश करने की एवं सूक्ष्म-तरल भावों को पहचानने की शक्ति उसमें कितनी है। जिस कवि का इन तीन शक्तियों पर जितना वृहत् अधिकार होगा उसकी प्रतिभा उतनी ही जीवन-व्यापिनी होगी, जीवन के चिरन्तन राग-द्वेषों का उसको उतना ही स्पष्ट और गहरा परिज्ञान होगा; और उतना ही वह कवि महान् होगा। हमने इसी कसौटी पर साकेत की परीक्षा की है। विस्तार की दृष्टि से साकेत में

मानव सम्बन्धों के अनेक रूप मिलेंगे। मानव जीवन के क्रिया-व्यापारों को संचालित करने वाले मनोरागों का साकेत में व्यापक विवेचन है। उनकी तीव्रता भी असंदिग्ध है । भावों को तीव्र करने के लिये कवि ने प्रायः अद्भुत् वातावरण का सृजन किया है। उसके पात्रों के मनोविकार संक्रामक रोग की भाँति अन्य पात्रों को और पाठकों को प्रभावित करते हैं। साथ ही उसकी सूक्ष्म ग्राहकता भी अपरिमेय है—भरत की ग्लानि और उर्मिला की अर्धविस्मृति में उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। अस्तु; साकेत मानव-जीवन की बड़ी अनूठी और पूर्ण व्याख्या है।

साकेत का सांस्कृतिक आधार

संस्कृति—जीवन के अन्य सूक्ष्म एवं व्यापक सत्यों की भाँति संस्कृति की भी कोई निश्चित और सीमित परिभाषा करना कठिन है। संस्कृति का सम्बन्ध, जैसे कि शब्दों की व्युत्पत्ति से पता चलता है, संस्कार से है। संस्कृत अवस्था का नाम ही संस्कृति है—अर्थात् संस्कृति मानव-जीवन की वह अवस्था है जहाँ उसके प्राकृत राग द्वेषों में परिमार्जन हो जाता है। यह परिमार्जन, यह संस्कार, उसे अपनी स्वभावगत इच्छा-आकांक्षाओं, प्रवृत्ति-निवृत्तियों के उचित सामञ्जस्य द्वारा करना पड़ता है। एकाकी मनुष्य में स्वभाव से जो भाव उठते हैं, उनके मूल में अहं की—स्वार्थ की प्रेरणा होना अनिवार्य है। अतः उनकी परिधि आत्म-साधना तक ही सीमित रहती है, परन्तु जीवन में व्यक्ति का अस्तित्व समाज के अङ्ग स्वरूप ही है, स्वतन्त्र नहीं। इसलिये उसे अपने राग-विरागों में संयम और समन्वय की आवश्यकता पड़ती है; उनको व्यष्टि के तल से उठा कर समष्टि-तल पर लाना पड़ता है, अपने को दूसरों की सापेक्षता में देखना पड़ता है। यहीं संस्कृति का जन्म होता है। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सामयिक जीवन की आन्तरिक मूल प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप ही संस्कृति है। संस्कृति को प्रात

करने के लिए जीवन के अन्तस्तल में प्रवेश करना।
स्थूल के आवरण के पीछे सूक्ष्म का जो सत्य, शिव औ
स्वरूप छिपा हुआ है संस्कृति उसको ही पहचानने का प्र
करती रहती है। जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा
की ओर, रूप से भाव की ओर बढ़ना, ही उसका ध्येय है!—
यह तो रही आन्तरिक धारणा की बात! संस्कृति का व्यक्त
रूप क्या है? संस्कृति का व्यक्त रूप है सभ्यता—अर्थात् आचार
विचार, विश्वास, परम्पराएँ, शिल्प-कौशल; और माध्यम है—
कला, साहित्य आदि। अब यदि इसका अर्थ और स्पष्ट करना
चाहें, तो कवि पन्त के शब्दों में सांस्कृतिक प्रत्ययों का विश्लेषण
इस प्रकार कर सकते हैं—

आह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल
+ + +
आशाऽभिलाप, उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र विघ्नों पर जय,
विश्वास असद सद् का विवेक
दृढ़ श्रद्धा, सत्य प्रेम अक्षय!
मानसी भूतियाँ ये अमन्द,
सहृदयता त्याग सहानुभूति—
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति-वर्गीय स्वभाव-पूर्ति!
मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान-ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश!

प्रत्येक देश या जाति की अपनी विशेष सामाजिक प्रेरणाएं

अपनी आशा-आकांक्षाएँ, अपने विश्वास हैं। अतः उसकी अपनी विशेष संस्कृति भी होती है जिस पर उसकी जलवायु, भौगोलिक स्थिति, उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं का प्रभाव होता है। निदान भारत की भी अपनी संस्कृति है। भारतीय संस्कृति विश्व की अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है और कदाचित् सबसे पूर्ण! गुप्तजी राष्ट्रीय कवि हैं—उनमें भारतीयता ओत-प्रोत है! राष्ट्रीयता में भी उनका क्षेत्र है—संस्कृति! वे भारतीय संस्कृति के कवि हैं। यह उनका सबसे बड़ा गौरव और यही उनकी प्रमुख विशेषता है! अस्तु!

साकेत प्रबन्ध काव्य है। उसमें जीवन को समग्र रूप में ग्रहण किया गया है। दूसरे उसके चरित्र-नायक हैं आर्य संस्कृति के सबसे महान् प्रतिष्ठापक भगवान राम—अतः स्वभावतः ही उसका सांस्कृतिक आधार कवि के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूर्ण है। साकेत में गुप्तजी ने राम-रावण युद्ध को ही सांस्कृतिक प्रश्न बना दिया है। यह एक राजा की दूसरे राजा से वैर-शुद्धि मात्र नहीं है—यह है आर्य-संस्कृति का कोणप-संस्कृति से संघर्ष और उस पर विजय! भरत-लक्ष्मण एवं अयोध्यावासी सीता को राम-पत्नी के रूप में इतना नहीं देखते जितना भारत लक्ष्मी अथवा आर्य-संस्कृति के रूप में—"निज संस्कृति समान आर्या की अग्रज रक्षा करते थे।" राम की विजय कवि के लिए अपनी संस्कृति की ही विजय है। अतः वह इसमें आर्य संस्कृति की विजय ही मानता है—

आर्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ।

कवि का हृदय विजय-गर्व से नाच उठा है।

साकेत का सांस्कृतिक आधार तो शुद्ध भारतीय है ही, बस, इसलिए हमें यहाँ यह देखना है कि उसके आदर्शों का प्रतिफलन

कवि ने किस प्रकार किया है। सबसे पूर्व हमें 'साकेत में जीवन का आदर्श क्या है?' इस प्रश्न पर विचार करना है क्योंकि संस्कृति की मूल-प्रेरणा इसी आदर्श में मिलती है। इसके उपरान्त ध र्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक आदर्शों और भौतिक जीवन की रीति नीति का विवेचन समीचीन होगा। संस्कृति के ये अङ्ग हैं, और मैं समझता हूँ इन्हीं के सहारे साकेत का सांस्कृतिक आधार स्पष्ट हो जाना चाहिए।

जीवन का आदर्श—साकेत के आदर्श चरित्र हैं भरत और राम—प्रधान चरित्र है उर्मिला। उसके चरित्र के अध्ययन से जीवन के आदर्श चरित्र पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है।

उनके जीवन की विभूति है त्याग। परन्तु यह त्याग वैराग्य-मय अर्थात् निषेधात्मक नहीं है। उसमें अनुराग का योग है। यह त्याग भावुकता का प्रसाद है, ज्ञान का परिणाम नहीं। 'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही'—अथवा त्याग का सञ्चय, प्रणय का पर्व' में उसकी व्याख्या स्पष्ट है। आठवें सर्ग में सीता-राम, राम-रावण, एवं राम-जाबालि का संवाद भी इसी ओर संकेत करता है। इस त्याग का साधन है कर्म! कर्तव्यशीलता चरित्र का सबसे बड़ा गौरव है। जीवन को इसीलिए साकेत में जूझना मात्र कहा गया है। साकेत के प्रत्येक पात्र का जीवन कर्म-प्रधान है—

> माना, आर्ये, सभी भाग्य का भोग है,
> किन्तु भाग्य भी पूर्व कर्म का योग है।

इसलिए उर्मिला, शत्रुघ्न, माण्डवी काल से भी युद्ध करने को प्रस्तुत है—

> तूने यह क्या दुर्दैव किया
> आभास स्वप्न में भी न दिया,

कुछ शमन यत्न करते हम भी
है योग साध्य दुर्दम यम भी ?—(उर्मिला)
रूठा और अदृष्ट मनाने को बातों से
अब मैं सीधा उसे करूँगा आघातों से। (शत्रुघ्न)

विघ्नों पर (दुःखों पर) विजय प्राप्त कर सुख का अर्जन और उपभोग—यह है पाश्चात्य आदर्श। परन्तु हम भारतियों का आदर्श दुःखों पर विजय प्राप्त कर सुख का अर्जन एवं उपभोग करना ही नहीं, हमारे सुख की चरम परिणति है उसको त्यागने में। इसी से नर को ईश्वरता प्राप्त होती है और यह भूतल स्वर्ग बन जाता है। यही हमारे जीवन का आदर्श है और ठीक यही साकेत का सन्देश।

धार्मिक आदर्श—तात्त्विक दृष्टि से साकेतकार उदार, वैष्णव भक्त हैं। तुलसी की भाँति उनकी भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में प्रगाढ़ श्रद्धा है। वे जीव और ब्रह्म की स्थिति को कुछ अंशों में निश्चय ही पृथक् मानते हैं। राम-ब्रह्म के अवतार हैं, सीता माया अर्थात् शक्ति—ब्रह्म और माया से ही संसार का क्रम चल रहा है—

इसको ही लेकर अखिल विश्व की क्रीड़ा,
आनन्दमयी नित नयी प्रलय की पीड़ा।

परमात्मा लीलाधाम है, साथ ही भक्त-वत्सल भी—अतः संसार को दिखाने के लिए वह अपनी सृष्टि करता रहता है। राम का जन्म भी आर्य-धर्म के संस्थापनार्थ हुआ था—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।

राम में कवि की अनन्य भक्ति है—वह राम के अतिरिक्त ईश्वर के अन्य किसी रूप को मानने को प्रस्तुत नहीं है। यही साकेत की दार्शनिक पृष्ठभूमि है।

क्रियात्मक रूप में कवि का आर्य-धर्म के सभी अङ्गों में विश्वास है। वेद और यज्ञ, जप, तप, व्रत-पूजा, सभी उनको मान्य हैं। वेद आर्य-संस्कृति का आधार है, यज्ञ उसका प्रमुख साधन। तभी तो राम चाहते हैं कि—

उच्चरित होती चले वेद की वाणी,
गूंजे गिरि-कानन सिन्धु पार कल्याणी!
अम्बर में पावन होम धूम लहराये।

व्रत-पूजा आदि का साकेत में बार-बार उल्लेख है। उर्मिला की माता अपनी कन्याओं को गौरी का पूजन करने भेजती हैं, स्वयं व्रत करती हैं। शत्रुघ्न भी राम की खर-दूषण विजय का वर्णन करते हुये विशेष जोर इन्हीं बातों पर देते हैं—

होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब, जप समाधि तप पूजा पाठ,
यश गाती हैं मुनि कन्यायें, कर व्रत पर्वोत्सव के ठाठ।

मध्य-युग में आकर क्षत्रियत्व के प्रभुत्व से और साथ ही वाममार्ग के प्रभाव-वश कर्म-काण्ड विशृङ्खल हो गया था। ज्ञान का आधार लुप्त हो जाने से यज्ञ में पशु बलि आदि का भी प्रचार हो चला था। वास्तव में यह विकृति ही थी। अतः साकेत में उसका विरोध है। लक्ष्मण मेघनाद से कहते हैं—

"कौन धर्म यह—शत्रु खड़े हुँकार रहे हैं—
तेरे आयुध यहाँ दीन-पशु मार रहे हैं।"
"करता हूँ मैं वैरि-विजय का ही यह साधन"
"तब है तेरा कपट मात्र यह देवाराधन!"

सामाजिक आदर्श—साकेत में जिस सामाजिक जीवन का वर्णन है, उसमें भारतीय संस्कृति कूट-कूट कर भरी हुई है। सामाजिक जीवन के लिये मर्यादा अनिवार्य है—

निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे!

उसकी सम्यक् व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने को दूसरों की सापेक्षता में देखे, अपने हित का दूसरों के हित से समन्वय करे। प्रत्येक मनुष्य को यह समझना चाहिए कि—

> केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
> है औरों की भी भार-धारिणी भरणी।
> जन पद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सबके,
> यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कबके।

भारतीय समाज विधान के मुख्य अङ्ग हैं—वर्ण व्यवस्था और आश्रम धर्म। साकेत में उनका गौरव सर्वत्र स्वीकृत किया गया है, परन्तु उसमें मध्ययुग के विकार नहीं हैं। साकेत में वर्ण व्यवस्था का शुद्ध मूल-रूप मिलेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी का अपना निश्चित स्थान है। ब्राह्मण पूज्य है परन्तु तभी तक जब तक वे अपने आदर्श पर स्थित हैं। परशुराम की मुनिता पूजनीय है, द्विजता-मात्र नहीं। उसके लिए कवि का स्पष्ट कथन है—

> द्विजता तक आततायिनी
> वध में है कब दोष-दायिनी !

दूसरी ओर शूद्रों की शूद्रता का भी तिरस्कार नहीं है। राम गुह-राज का सखा के सदृश आदर करते हैं। वे उसको अङ्क में भर कर स्वागत करते हैं। सीता किरात, भिल्ल बालाओं के साथ सखी का-सा व्यवहार करती हैं। वे उनकी सेवा में [illegible] हैं। इधर आश्रम-धर्म की मान्यता भी [illegible] की [illegible] रूप में स्थापित की गई है—

> [illegible] हैं तपस्वी,
> [illegible]

मध्यकालीन संस्कृति में और भी कुछ दोष आगए थे। उस समय स्त्रियों का स्थान बहुत गिर गया था। कबीर, तुलसी आदि के काव्यों का अध्ययन उस पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। परन्तु वास्तव में आर्य-संस्कृति इसका समर्थन नहीं करती। उसके अनुसार स्त्रियाँ अर्धाङ्गिनी हैं—उनका स्थान पुरुष का वाम-पार्श्व है। वे पुरुष जीवन की पूर्ति हैं—

मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी,
मुक्त अर्द्धाङ्गी बिना अभी।
हैं अर्द्धाङ्ग अधूरे ही,
सिद्ध करो तो पूरे ही॥

साकेत की उर्मिला, माण्डवी, सुमित्रा आदि के चरित्र स्त्रियों की गरिमा की ओर संकेत करते हैं। परन्तु इस प्रकार स्त्रियों के महत्व को स्वीकार करते हुये भी भारतीय जीवन में उनका अपना विशेष क्षेत्र है। वे गृह-लक्ष्मी हैं—वहाँ उनका साम्राज्य है। इससे बाहर, क्षमता होने पर भी, भारतीय ललना प्रायः नहीं जाती। माण्डवी जैसी सुयोग्य स्त्री को भी राज-नीति-विषयक वार्तालाप सुनने के लिए भरत की आज्ञा पूर्व ही लेनी पड़ती है 'राजनीति बाधक न बने तो तनिक और ठहरूँ इस ठौर।' आवश्यकता पड़ने पर वे उर्मिला और कैकेयी की भाँति रण-चण्डी का रूप धारण कर सकती हैं, परन्तु साकेत के कवि का फिर भी यही कहना है—

क्या हम सब मर गये हाय! जो तुम जाती हो,
या हमको तुम आज दीन-दुर्बल पाती हो।
घर बैठो तुम देवि! हेम की लङ्का कितनी

+ + + +

मारेंगे हम देवि, नहीं तो मर जावेंगे,
अपनी लक्ष्मी लिए बिना क्या घर आवेंगे?

तुम इस पुर की ज्योति, अहो यों धैर्य न खोओ,
प्रभु के स्वागत हेतु गीत रच थाल सँजोओ ॥

क्योंकि उनका अपमान आर्यों को सह्य नहीं—'अबला का अपमान सभी बलवानों का है।' हाँ वे युद्ध कार्य में दूसरे प्रकार से सहायता दे सकती हैं। उनका कार्य है आश्वासन देना, सुख की व्यवस्था करना।

प्रिये तुम्हारी सेवा का सुख पाने को ही यह श्रम सर्व,
वीरों के व्रण को वधुओं की स्नेह-दृष्टि का ही चिर गर्व!

पारिवारिक आदर्श:—परिवार समाज का ही सङ्कीर्ण परंतु सघन रूप है। समाज का आदर्श है परिवार सदृश होना! और परिवार का आदर्श है समाज के समान होना। साकेत का समाज ऐसा ही है—

एक तरु के विविध सुमनों से खिले
पौर जन रहते परस्पर हैं मिले;

उनके पारिवारिक जीवन का तो विस्तृत विवेचन मैं कर ही चुका हूँ। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, भाई-भाई का सम्बन्ध, भाभी-देवर, सास-बहू का सम्बन्ध सपत्नियों का पारस्परिक व्यवहार—इत्यादि भारतीय परिवार के सभी सम्बन्ध-संस्था अपने आदर्श-रूप में यहाँ मिलेंगे। साकेत के गार्हस्थ्य-चित्रों में भारतीय संस्कृति का परमोज्ज्वल स्वरूप मिलता है। हाँ लक्ष्मण और कैकेयी का वार्तालाप, उधर शत्रुघ्न का विमाता के प्रति व्यवहार सर्वथा असंस्कृत है। भरत के शब्दों में भी कुछ असंगत है। आदर्श रघु-परिवार में ऐसा व्यवहार वांछित है! दो एक स्थानों पर लक्ष्मण के उर्मिला के चरणों पर गिरने का वर्णन है। यह भी भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं जचता। उधर उर्मिला के "मानो करुणा हुई पार्श्व में लग कर

जब तब मुझको" आदि दो एक वाक्यों में भी वाक्संयम की न्यूनता अवश्य है। परन्तु इन सभी बातों का कारण है। कवि ने निश्चय ही इन्हें जान बूझ कर छोड़ दिया है। वह जानता था कि इस प्रकार के शब्दों और घटनाओं पर आक्षेप होगा, परन्तु फिर भी उसने उनमें परिवर्तन या परिशोधन नहीं किया! क्यों? कारण स्पष्ट है! वह संस्कृति के मूल्य से परिचित है, परन्तु वह यह भी जानता है कि मानव हृदय में सभी कुछ संस्कृत और शुद्ध नहीं है। उसके अन्दर अनेक अच्छी बुरी भावनाएँ अपने नैसर्गिक रूप में विद्यमान हैं और समय-समय पर उनका प्रकाशन भी अनिवार्य हो जाता है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत शोक और क्रोध से अभिभूत होकर संयम और संस्कृति को भुला देते हैं, और ऐसा मानव है तब तक सदैव होता रहेगा।

नीति—प्रत्येक देश की अपनी रीति-नीति, प्रथाएँ, विश्वास और परम्पराएँ होती हैं। उनमें देश की संस्कृति निहित रहती है। वैसे तो मूल नैतिक सिद्धान्त सभी देशों और कालों में एकसे ही हैं, परन्तु फिर भी भिन्न-भिन्न देशों में कुछ विशेषताएँ होती ही हैं! धर्म का अर्थ है धारण करने वाला; अर्थात् जीवन को सम्यक रूप से यापन करने के लिए जिस विधान की आवश्यकता है वह धर्म (नीति) है! हमारे यहाँ धर्म के जो दश अंग माने गए हैं, वे लगभग सभी किसी न किसी रूप में सर्वत्र मान्य हैं। साकेत में उन सभी का प्रतिफलन मिलेगा। राम में तो मानों वे सभी मूर्तिमन्त हो उठे हैं। फिर भी भारतीय जीवन में आत्म-निग्रह को कुछ अधिक महत्व दिया गया है। निग्रह के लिए मुख्य दो वृत्तियाँ हैं—काम और लोभ! लोभ का निग्रह-अपरिग्रह साकेत के सभी पात्रों में मिलेगा। राम और भरत की निर्लोभता जाबालि को भी चकित कर देती है। राज्य जैसी वस्तु

का भी भारतीयों के हृदय में कितना मूल्य है, इसकी साकेत में स्पष्ट व्याख्या है—

> और किस लिए राज्य मिले
> जो हो तृण-सा त्याज्य, मिले।

इसी कारण हमारे दिग्विजयी नृपतियों का लक्ष्य सदैव विजय और यश लाभ ही रहा है, धन लूटना नहीं। उर्मिला का यही सन्देश है।

> गरज उठी वह "नहीं-नहीं पापी का सोना,
> यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
> वीरो, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ!
> सावधान! यह अधम-धान्य-सा धन मत छूना,
> तुम्हें तुम्हारी मातृ-भूमि ही देगी दूना।"

काम के निग्रह के लिए भारतीय नीति-शास्त्र में पुरुषों को एक पत्नीव्रत और स्त्रियों को पातिव्रत धर्म का आदेश है। अन्य देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ इसका कहीं अधिक गौरव है। दूसरे की स्त्री पर कुदृष्टि डालने से पुरुष का नाश हो जाता है, इसी प्रकार पर-पुरुष की भावना मात्र ही स्त्री के जन्म को बिगाड़ने के लिए यथेष्ट है। साकेत की कहानी पातिव्रत और एक पत्नी-व्रत की ही कहानी है। लक्ष्मण का सबसे बड़ा बल इसी बात का है कि—

> यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
> यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना।

इधर सीता पर-पुरुष से बात करने में ही धर्म का ह्रास समझती है—

> विमुख हुई सौमित्र देख उस मृग के प्रति पतिव्रता।

और अनिच्छा पूर्वक पर-पुरुष का स्पर्श करने के कारण उसको अग्नि शुद्ध करनी पड़ती है! इसीलिए पातिव्रत का आदर्श

इतना ऊँचा है—और उसका गौरव इतना महान है कि—

उड़ जायेगा दग्ध देश का सती श्वास से ही बल-वित्त !

नीति का एक हल्का स्वरूप शिष्टाचार है। पारस्परिक सम्बन्ध-संसर्गों में स्वच्छता बनाये रखने के लिये शिष्टाचार के नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है। इसके अन्तर्गत व्यावहारिक बातें हैं। साकेत में शिष्टाचार का बड़ा विशद रूप मिलता है। अपने से बड़ों के प्रति, बराबर वालों के प्रति, अपने से छोटों के प्रति, स्त्रियों के प्रति, अपने तथा दूसरों के प्रति हमारा कैसा व्यवहार होना चाहिये यह सभी साकेत में मिलेगा। वशिष्ठ गुरु हैं। उनका समस्त राजकुल में आदर है। राजा से लेकर कुल-स्त्रियों तक कोई भी उनके सम्मान में त्रुटि नहीं कर सकता। सुमन्त सेवक हैं, परन्तु परिवार-भुक्त और पिता के समवयस्क होने के कारण राम लक्ष्मण आदि उनसे काका कहते हैं। ऋषियों और विद्वानों के सत्कार में राज-परिवार सदैव सतर्क रहता है। अतिथि-सत्कार भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध है ही। चित्रकूट में राम द्वारा उसका, बड़ा सफल दिग्दर्शन हुआ है—

अपना आमन्त्रित अतिथि मान कर सबको,
पहले परोस परितृप्ति-दान कर सबको,
प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन यों,

साकेत के समाज में पुत्र-पुत्रियाँ पिता को तात कहती हैं, छोटे भाई बड़ों को आर्य, भाभियों को आर्या, स्त्रियाँ पतियों को आर्यपुत्र, पति उनको देवी आदि सम्मान-युक्त नामों से सम्बोधित करते हैं। स्त्रियाँ साधारणतः पतियों का नाम नहीं लेतीं, तभी तो उर्मिला आत्म-विस्मृति में भी 'वित्रश लक' कहकर चुप हो जाती है। संकोच, शील उनकी विभूति है। पति के

किसने शत यज्ञ हैं किये,
पदवी वासव की बिना लिए ?
सुन, हैं कहते कृती कवि—
मिलती सागर को न जाह्नवी,
स्व-भगीरथ-यत्न जो कहीं
करते वे सरयू-सखा नहीं !

× × ×

जिसका गत यों महान है !

भारत में जो कुछ महान और सुन्दर है, वह हमारे गौरव का प्रतीक बन गया है। हमारी गङ्गा, यमुना, सरयू, विन्ध्य, हिमालय जड़ नदी पर्वत नहीं हैं वे भारतीय जीवन के प्रेरक हैं, उनमें हमारा जीवन घुल मिल गया है, उनका महत्व भौतिक नहीं, धार्मिक है। मार्ग में गङ्गा को देख कर सीता श्रद्धा और हर्ष से पुलकित हो उठती हैं—

जय गंगे, आनन्द-तरंगे, कलरवे,
अमल-अंचले, पुण्यजले, दिव-सम्भवे
सरस रहे यह भरत-भूमि तुम से सदा
हम सबकी तुम एक चलाचल सम्पदा !!

इसी प्रकार उर्मिला साकेत-वासियों को गङ्गा, यमुना और सरयू के नाम पर उत्साहित करती है—

चन्द्र सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न वीरो,
विन्ध्य, हिमालय-भाल कहीं झुक जाय न वीरो,
देखो उतर न जाय कहीं पर मौक्तिक मानी,
गंगा-यमुना सिन्धु और सरयू का पानी !

सामाजिक जीवन की प्रथाएं और संस्कार भी संस्कृति के सजग निदर्शन हैं—इनमें संस्कृति का स्वरूप न जाने कब से

संरक्षित चला आता है! भारतीय जीवन में अनेक प्रथाएँ और संस्कार प्रचलित हैं—यहाँ भी अन्य देशों की भाँति जन्म, विवाह मरण आदि बहुत से संस्कार किए जाते हैं, परन्तु उनका अपना पृथक् आदर्श है! साकेत में उनका स्थान-स्थान पर वर्णन है—विशेष कर विवाह और मरण का। विवाह का आदर्श क्या है, उर्मिला से सुनिये—

कर-पीड़न प्रेम-याग था
कह, स्वीकार कहूँ कि त्याग था
नर का अमरत्व तत्व था
वह नारी कुल का महत्व था।

यहाँ विवाह को त्याग और स्वीकृति दोनों माना है—उसमें दूसरे के आत्म-समर्पण को स्वीकार करना और अपने व्यक्तित्व का त्याग करना पड़ता है। नर नारी के लिए वह अमरत्व का साधन है। मरण को भी भारतीय उसी उत्साह से मनाते हैं जिससे जन्म अथवा विवाह को। मृत्यु का भी सुख से स्वागत करना हमारी संस्कृति की विशेषता है। दशरथ के मरण संस्कार का बड़ा भव्य-चित्र साकेत में अङ्कित है। उसमें सभी प्रमुख प्रथाओं का सूक्ष्म वर्णन है।

आज नरपति का महा संस्कार,
उमड़ने दो लोक-पारावार!
है महा यात्रा यही, इस हेतु
फहरने दो आज सौ सौ केतु!
सुकृतियों के जन्म में भव-भुक्ति,
और उनकी मृत्यु में शुभ मुक्ति!
अश्व, गज, रथ हों सुसज्जित सर्व!
आज है सुर-धाम-यात्रा-पर्व!

आगे संस्कार का वर्णन है—

राज-गृह की वह्नि बाहर जोड़,
कर उठे द्विज होम-आहुति छोड़।

+ + +

आज पैदल थे सभी सत्पात्र,
वाहनों पर नृप-समादर मात्र।
शेष-दर्शन कर सभक्ति, सयत्न,
जन लुटाते थे वसन, धन, रत्न।

दशरथ की चिता अगरु की बनाई जाती है।

फिर प्रदक्षिणा, प्रणति जयजयकार,
सामगान समेत शुचि संस्कार।

किया जाता है जिसमें घृत और कर्पूर की वर्षा होती है और अन्त में—

कण्ठ कण्ठ गा उठा—शून्य शून्य छा उठा।
"सत्य काम सत्य है—राम नाम सत्य है!"

वसिष्ठ राम नाम की प्रतिष्ठा कर देते हैं (कदाचित दशरथ को इसी से सुगति मिलना) जो आज तक इसी रूप में चला आता है। इसके उपरान्त भरत और राम पिता का विधिवत् तर्पण करते हैं।

संस्कारों के अतिरिक्त सती, स्वयम्वर, अभिषेक, उपवास आदि प्रथाओं पर भी साकेत में प्रकाश डाला गया है। पति की मृत्यु के उपरान्त आर्य नारियों का संसार सर्वथा नष्ट हो जाता है। कौशल्या इसी भाव की अभिव्यक्ति करती हैं—

हा आर्य्य! कहाँ तुम्हारा धाम?
अब हमें इस लोक में क्या काम?

भूमि पर हम आज केवल भार;
क्यों सहे संसार हाहाकार ?

इसलिए रानी सती होने का प्रस्ताव करती हैं किन्तु वशिष्ठ उन्हें विधवाओं का आदर्श वतलाते हैं—

धन्य वह अनुराग निर्गत राग,
और शुचिता का अपूर्व सुहाग।
अग्निमय है अब तुम्हारा नाम,
दग्ध हों जिसमें स्वयं सब काम॥
सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ,
आयु भर स्वामि-स्मरण है श्रेष्ठ।

इस प्रकार कवि सती-प्रथा का विरोध-सा करता है—उसका कहना है कि जन्म भर स्वामी का स्मरण करते हुए तप और संयम का जीवन व्यतीत करना सहमरण से भी श्रेष्ठ है! हमारे यहाँ वधुओं का कुल के मङ्गल के लिए उपवास करना एक अत्यन्त पवित्र कर्तव्य कर्म है—उनकी कामना सीता के शब्दों में सदैव यही रहती है—

गृह-कलह शान्त हो, हाय कुशल हो कुल की!

इसलिए वे उपवास व्रत आदि किया करती हैं—

बधुएँ लंघन से डरतीं
तो उपवास नहीं करतीं—

साकेत में योग, शाप, सौगन्ध, शकुन आदि का भी प्रसंगानुसार उपयोग किया गया है। योग-क्रियाओं में भारतीयों का विश्वास आरम्भ से ही रहा है। चित्तवृत्ति के निरोध से अप्राकृतिक अर्थ भी सिद्ध हो जाते हैं। कवि ने साकेत में दो वार उनका प्रयोग करके उनके प्रति अपनी आस्था प्रकट की है—

ार हनुमान के उड़ने में; दूसरे वशिष्ठ द्वारा युद्ध का दृश्य
ग्त करने में! इसके साथ ही शाप, सौगन्ध; शकुन (नेत्र
का फड़कना) में भी भारतीय जनता का विश्वास रहा
ियों की स्वभावगत भीरुता इनकी ओर अधिक आकृष्ट
है। साकेत में कौशल्या, सीता आदि के मुख से कवि
ाकी ओर बार-बार संकेत किया है—

'तो मुझे निज राम की सौगन्ध !' —(कौशल्या)

ा कहते हो पर यह मेरा दक्षिण नेत्र फड़कता है !' (सीता)

राजनैतिक आदर्श:—साकेत में वैसे तो साम्यवाद, लोक-
आदि विभिन्न विचारधाराओं का व्याख्यान भी बड़ा स्पष्ट-
ा परन्तु कवि ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप राजतन्त्र
ी आस्था प्रकट की है और उसी का प्रतिपादन किया है।
री संस्कृति में राजा का बड़ा गौरव है। परन्तु राजा की
ाषा भी असाधारण है। राजा स्वेच्छाचारी अधिकार-
मनुष्य नहीं हो सकता। उसके लिए बल-वैभव अथवा
नैतिक प्रतिभा पर्याप्त नहीं है—उसकी सब से बड़ी विशे-
है लोक-सेवा की भावना। 'नियत शासक लोक सेवक
।' राज्य राजा की सम्पत्ति नहीं, प्रजा की थाती है—'प्रजा
र्थ है साम्राज्य सारा।' वह प्रजा का व्यवस्थागार-मात्र
उसमें केवल दायित्व का ही भार है। राजा अकेला सर्व-
ामाण हिटलर नहीं है, उस पर व्यवस्थापिका सभा का
न्त्रण है—

वही हो जो कि समुचित हो सभा में।

इस प्रकार यद्यपि भारतीय राज्य-तन्त्र और प्रजातन्त्र में
ा ही अन्तर रह जाता है, परन्तु फिर भी राजा का अस्तित्व
ी। राजा के लिए कुलीन राजपुत्र होना भी प्रायः अनि-

वार्य ही समझा जाता है, वंश परम्परा का बहुत मूल्य रखा गया है। दूसरे राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होता है—

मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।

अन्य राज-पुत्रों को भी उचित पदवी मिलती है। साकेत के राम को इसका पूरा ध्यान है। वे सीता से कहते हैं—

रहेगा साधु भरत का मन्त्र, मनस्वी लक्ष्मण का बलतन्त्र !
तुम्हारे लघु देवर का धाम, मात्र दायित्व-हेतु है राम।

परन्तु यही सब कुछ नहीं—राजा को सद्गुणों का प्रतीक होना चाहिये। साकेत की प्रजा के सम्मुख राज-परिवार का उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत है, इसीलिये उसका जीवन सर्वथा संतुष्ट और शान्त है।

नहीं कहीं गृह-कलह प्रजा में, है सन्तुष्ट तथा सब शान्त,
उनके आगे सदा उपस्थित, दिव्य राज-कुल का दृष्टान्त।

राजा और प्रजा के बीच शासक और शासित का अन्तर नहीं है। 'पूर्ण है राजा प्रजा की प्रीतियाँ'—प्रजा राजा की प्रकृति है, यह है साकेत के राजा की परिभाषा। इस आदर्श से यदि वह च्युत हो जाए तो प्रजा को अधिकार है कि वह अपने बल 'लोकमत' का प्रयोग करे। राजा यदि दायित्व भूल राज्य को भोग बनाले—यदि राज्य का प्रलोभन उसको हो जाए, तो शत्रुघ्न कहता है—तो उचित है क्रांति का ही केतु !

दूर हो ममता विषमता मोह !

❀ ❀ ❀

इतना ही नहीं वह और आगे बढ़ता है और साम्यवाद की स्पष्ट घोषणा कर देता है—

विगत हो नरपति रहें नर-मात्र,

और जो जिस कार्य के हों पात्र !
वे रहें उस पर समान नियुक्त
सब जिएँ ज्यों एक ही कुल भुक्त !

परन्तु भारतीय संस्कृति को यह विधान मान्य नहीं। इसीलिये कवि भरत के शब्दों में उसका बड़ा सुन्दर निराकरण करता है—

अनुज, उस राजस्व का हो अन्त,
हंत जिस पर कैकेयी के दन्त !
किन्तु राजे राम-राज्य नितान्त,
विश्व के विद्रोह करके शान्त !

यदि राजा आदर्श से स्खलित हो जाय, वह राज्य पर दाँत रख निकले, तो अवश्य उस राज्य का अन्त कर देना चाहिये। परन्तु क्रान्ति का उपयोग केवल शान्ति व्यवस्था के लिये ही उचित है। कुराज्य का अन्त होना चाहिये, राज्य का नहीं—राम राज्य तो सर्वथा स्पृहणीय है ! इस प्रकार कवि राज्य का ही नहीं साम्राज्य का भी समर्थन करता है। समग्र राष्ट्र के कल्याण के लिए एक राज्य होना उचित है क्योंकि—

एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ
राष्ट्र का बल बिखर जाता वहाँ !

भारतीय संस्कृति भी इसका अनुमोदन करती है ! राज्य में शान्ति की व्यवस्था करने के लिए युद्ध-शस्त्र-बल भी आवश्यक होता है—

इसी हेतु है जन्म टंकार का
न टूटे कभी तार झंकार का।

परन्तु उसका उपयोग वहीं तक सीमित रहना चाहिये। कवि का कहना है कि वैसे तो—

यही ठीक टंकार सोती रहे
सभी ओर झंकार होती रहे।
सुनो किन्तु है लोभ संसार में।
इसी हेतु है क्षोभ संसार में।
हमें शान्ति का भार जो है मिला,
इसी चाप की कोटियों से झिला।

इसी प्रकार चाप का प्रयोग भी जीवन के लिए अनिवार्य है शान्ति का भार झेलने के लिए पुरुषार्थ चाहिये।

भौतिक-जीवन—भारतीयों का आदर्श त्याग और तप अवश्य रहा है परन्तु जीवन के आनन्द का उपभोग करना वे लोग सभी जानते थे। भुक्ति और मुक्ति के उचित सामञ्जस्य द्वारा ही उनके जीवन में सुख शान्ति का प्रसार होता था—'भुक्ति मुक्ति का योग जहाँ पर मिला जुला है।' उनका भौतिक वैभव अपार था, हमारे यहाँ की भौतिक सभ्यता भी अत्यन्त सम्पन्न थी। भारत की सुख-श्री पर विदेशी ईर्ष्या करते थे। साकेत को पृष्ठभूमि में जिस भौतिक जीवन का चित्र है, वह उसके अनुरूप ही है। राजा ही नहीं प्रजा का भी वैभव अतुलनीय था। शत्रुघ्न द्वारा साकेत की समृद्धि का वर्णन उसका उदाहरण है। ज्ञान-विज्ञान कला-कौशल सभी का चरम उत्कर्ष दिखलाया गया है। ज्ञानी विज्ञानी नित्य नवीन सत्यों की शोध करते थे—सर्व साधारण को ज्ञान-वृद्धि हो रही थी। लेखक जहाँ-तहाँ जाकर लोगों के अनुभव लिखा करते थे। कवि-कोविद नित्य नये वृत्तों में गीत रचना करते थे। ललित कलाएँ अपने पूर्ण विकास को प्राप्त थीं—सङ्गीत, नाटक, चित्र, शिल्प वस्तु सभी अपने यौवन में थे। वैद्य नवीन वनस्पतियों की खोज करते थे। सौगन्धिक नव-नव सुगन्धियाँ निकाल रहे थे। तन्तुवाय नये

नये पट-परिधान बुन रहे थे जो रखने में फूलों के दल से थे और फैलाने में गन्ध के सदृश्य ! स्वर्णकार, लोहकार, सभी कर्म रत थे ! वसुधा-विज्ञ नवीन खानों की खोज कर रहे थे । सभी कृषक बीज-वृद्धि का इतिहास रखते थे । उधर गोवंश-विकास भी हो रहा था ! नए-नए शस्त्र-अस्त्रों का आविष्कार हो रहा था। साकेत-वासियों का दैनिक जीवन भी आदर्श था । प्रातःकाल प्रभातियाँ होती थीं । सूर्योदय होते ही सर्वत्र शास्त्र-मंथन और दधिविलोड़न होता था । सभी परिवारों में तोता मैना आदि पाले जाते थे जिनसे सद्‌गृहस्थों का विनोद होता था। उनके निवास-स्थान भारतीय वस्तु-कला के सच्चे निदर्शक थे । कवि ने साकेत नगरी के चित्रों में कलश, छज्जे, शालाएँ, इन्द्रधनुपाकार तोरण, साध, सिंह-द्वार आदि भारतीय वास्तुकला के प्रमुख तत्वों का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। नगर में सभी कहीं सुसंवत्त के निदर्शक अध्वर-यूप दृष्टि-गत होते थे, उनके पास में ही वेदियाँ थीं । यत्र तत्र विशाल कीर्ति-स्तम्भ वने हुये थे जिनमें सविवरण ऐतिहासिक वृत्त खुदे हुये थे ।

ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं,
जो सुसंवत के निदर्शन-रूप हैं ।
राघवों की इन्द्र-मैत्री के बड़े,
वेदियों के साथ साक्षी से खड़े,
मूर्तिमय विवरण समेत जुदे जुदे,
ऐतिहासिक वृत्त जिनमें हैं खुदे ।
यत्र तत्र विशाल कीर्ति स्तम्भ हैं,
दूर करते दानवों का दम्भ हैं ।

धर्म-परायण राजा की पूजा होती थी । पौर-कन्याएँ राजा पर पान-फूल आदि की वर्षा किया करती थीं । उसका अपना

वैभव भी अपरिमेय था—साकेत में उनके भी सुन्दर चित्र हैं। अभिषेक मण्डप का एक चित्र देखिए—

दीर्घ खम्भे हैं बने वैदूर्य्य के।
ध्वज पटों में चिह्न कुल गुरु सूर्य के
बज रही है द्वार पर जय-दुन्दुभी,
और प्रहरी हैं खड़े प्रमुदित सभी।
क्षौम के छत में लटकते गुच्छ हैं,
सामने जिनके चमर भी तुच्छ हैं।

सम्पन्न भारत का चित्र कितना दिव्य है। इस प्रकार साकेत में भौतिक जीवन की जो पृष्ठ-भूमि है वह सर्वथा भारतीय संस्कृति की अभिवाहक है। संस्कृति की वाहक है सभ्यता, और सभ्यता की अभिव्यक्ति भौतिक जीवन के द्वारा होती है उसका सफल अङ्कन संस्कृति का सफल निर्दशन है।

अन्त में साकेत में भारतीय संस्कृति को सम्पूर्ण रूप में ग्रहण किया गया है। संस्कृति का स्वरूप सदैव एक-सा नहीं रहता। उसमें समय के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु यह केवल वाह्य उपकरणों के विषय में सत्य है। संस्कृति के अन्तर्गत एक बार प्रतिष्ठित हो जाने पर फिर सदा स्थिर रहते हैं। भारतवर्ष में वैदिक, जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, ग्रीक, पौराणिक मुस्लिम और अन्त में पाश्चात्य यूरोपियन आदि अनेक संस्कृतियों का जमघट रहा। अतएव भारतीय संस्कृतियों में देश काल के अनुसार परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फिर भी उसका मूल रूप सुरक्षित रहा है—यद्यपि मध्यकालीन अधः-पतन और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उसको बहुत क्षति पहुँचाई है। क्रान्ति के इस युग में प्राचीन संस्कृति के गौरव को अक्षय रखने का सबसे बड़ा दायित्व कवियों पर है और इस

दायित्व को जिस कवि ने जितना पूरा किया उतना ही वह कवि भारतीय है। साकेत का कवि ऐसा ही सर्वद्रष्टा भारतीय कवि है। उसकी सार-ग्राहिणी कवि-दृष्टि ने अपूर्व क्षमता के साथ संस्कृति के मूल तत्त्वों को पहिचान कर उनकी प्रतिष्ठा की है। साथ ही स्वस्थ विदेशी प्रभावों का भी भारतीय आदर्शों से समन्वय किया है। साकेत में प्राचीन और नवीन का सामञ्जस्य इस प्रकार हुआ है कि नवीन के लिए उसने सर्वत्र प्राचीन आधार ही चुना है, इसीलिए वह उधार लिया हुआ नहीं लगता। प्राचीन में जो बुरा है वह उसे मान्य नहीं, नवीन में जो अच्छा है वह उसे अमान्य नहीं।

गान्धीवाद का प्रभाव :—इस समन्वय में गुप्तजी गान्धी-नीति से प्रभावित हैं। आज से दस वर्ष पूर्व जब कि साकेत का निर्माण हुआ था, यद्यपि गान्धीजी के विचारों का तत्वरूप में दोहन नहीं किया जा सका था, परन्तु फिर भी वह एक ऐसी शक्ति थी जो भारतवर्ष को समग्र रूप में आच्छादित किये हुए दिगदिगन्त तक प्रसारित थी। प्रत्येक भावुक विचारक जिसका कुछ भी स्पर्श देश की स्थिति से था, उसकी ओर श्रद्धा से आकृष्ट हुआ। साकेतकार पर गान्धी-नीति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो था। साकेत उस युग की कृति है जो आज समाप्त प्रायः है, जिसकी अनुभूतियाँ और प्रवृत्तियाँ आज 'आउट-आव डेट' हो चुकी हैं, जिनकी उपयोगिता पर आज प्रश्न-सूचक चिह्न लगा हुआ है। वह युग सौ फीसदी गांधी युग था—अतः साकेत की संस्कृति पर गांधी युग का प्रभाव था—अतः साकेत की संस्कृति पर गांधीवाद का रङ्ग है। गांधीवाद का आध्यात्मिक आधार है मानव-स्वभाव पर अटल विश्वास। उसका कहना है कि सारी दुनियाँ का मूल स्रोत सत्य है। दुनियाँ के अणु-अणु में इन भिन्न-भिन्न रूपों और आकार-

प्रकारों में वही पिरोया हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि सब जीवमात्र, मनुष्य मात्र एक ही सत्य के अंश हैं। असल में एक रूप है। हम सब का नाता आत्मीयता का है। अतः हमारा पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम का, सेवा का, सहिष्णुता और उदारता का ही हो सकता है—न कि द्वेष का, विरोध का, अथवा छोटे बड़े का। ये दो गांधीवाद के ध्रुव सत्य हैं जिन्हें गांधीजी क्रमशः सत्य और अहिंसा कहा करते हैं। इनका क्रियात्मक स्वरूप है—उन्हीं के शब्दों में, सत्याग्रह अर्थात् सत्य की शोध के लिए सत्य का आग्रह। जैनेन्द्रजी के शब्दों में गांधी-वाद का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—(१) ध्येय सत्य (प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर है) (२) धर्म-अहिंसा जो निषेधात्मक न होकर भावात्मक शक्ति है (३) कर्म-सत्याग्रह अर्थात् जो अप्राप्त सत्य है उसकी ओर बढ़ना प्रगतिशील रहना है। इसके व्यक्त मूर्तरूप हैं दरिद्रनारायण की सेवा जिसमें चरखा, ग्रामोद्योग, हरिजन आन्दोलन आदि सभी का समावेश हो जाता है। सत्य की प्राप्ति में जो बाधा व्यवधान पड़े उस पर तपस्या के द्वारा अपने को कष्ट देकर विजय प्राप्त करनी चाहिए। वही विजय स्थायी होगी।

इस सत्य अर्थात् सर्वोदय, अर्थात् मानव की आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए क्रान्ति भी एक साधन है। परन्तु क्रान्ति का उद्देश केवल शान्ति-स्थापना ही होना चाहिए। सर्वोदय के लिए रामराज्य की आवश्यकता है जिसका कार्य जनता पर शासन करना नहीं वरन् उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा। उसका यह दायित्व होगा कि वह स्वस्थ, स्वावलम्बी परस्पर सहयोगी, आत्म-रक्षा-क्षम, सुसंस्कृत, श्रमशील, निर्भय और प्रसन्न मानव समाज का निर्माण और उसकी व्यवस्था करे। अतः वहाँ जाति या श्रेणी का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अब हमें देखना चाहिए कि साकेत में सांस्कृतिक आधार में गांधीवाद के तत्वों का समावेश कितना है। सबसे पहिले तो उसका तात्त्विक रूप लीजिए। तत्वरूप में अर्थात् ईश्वर और जीव सम्बन्धी विचारों में साकेतकार गांधीजी से करीब-करीब न के बराबर प्रभावित है। गुप्तजी की भक्ति का दार्शनिक आधार सुदृढ़-दृढ़ और सर्वथा स्थूल (मूर्त) है—उसमें रहस्यवाद के लिए स्थान नहीं। अतः सत्य की सत्ता को उसी रूप में स्वीकार करते हुए भी वे ईश्वर को केवल सत्य-रूप ही नहीं मानते। वह इससे भी कहीं अधिक है। उसका सगुण-स्वरूप अमूर्त सत्य में नहीं समा सकता है। हाँ, साकेत के राम में जो सेवा-भावना की प्रधानता है वह कवि ने गांधी-दर्शन से ही प्राप्त की है—

सुख देने आया, दुःख झेलने आया।

\+ + +

मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया!

\+ + +

सुख-शान्ति हेतु मैं क्रांति मचाने आया!
विश्वासी का विश्वास बचाने आया!
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित है,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित है,
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया!

'मानस' के राम भी धर्म-संस्थापनाय—एवं भू-भार हरने को अवतरित होते हैं—परन्तु उनमें 'संरक्षा' का भाव प्रधान है, साकेत के राम में सेवा-वृत्ति की प्रधानता होना गांधी-नीति के ही प्रभाव का परिणाम है! गांधीवाद के कार्मिक (व्यवहार-गत)

स्वरूप से गुप्तजी पूर्णरूप से सहमत हैं। साकेत में उसकी प्रति-ध्वनि स्थान-स्थान पर मिलती है। गान्धीजी का राम-राज्य ही लगभग साके। का राम-राज्य है, यद्यपि साकेत के राजा की स्थिति गांधीजी के राजा की स्थिति से दृढ़ है। दोनों में राजा की विशेषताएँ एक है—नियत शासक लोक सेवक मात्र—अथवा 'राज्य में दायित्व का ही भार' तो मानो महात्माजी के ही शब्दों की ध्वनि है। इसी प्रकार 'प्रजा की थाती रहे अखण्ड' में गान्धीजी के 'ट्रस्टी' शब्द का ही व्याख्यान है। उधर महात्माजी के विनत विद्रोह का प्रयोग कवि ने देशकाल के बन्धन को भी तोड़कर कराया है। सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी के दरिद्र देव की सेवा और परिवार न्याय दोनों का साकेत में दिव्य आख्यान है; और सीता तो उनकी चर्खा-योजना का प्रचार करती मालूम पड़ती है—

> तुम अर्ध-नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
> आओ हम कातें-बुनें गान की लय में।

साकेत की देश-भक्ति भी गांधीजी की देश भक्ति की तरह निश्चित रूप से धार्मिक है! अन्याय और अधर्म कवि को किसी प्रकार भी सह्य नहीं—

> पर वह मेरा देश नहीं जो करे दूसरों पर अन्याय।

वह एक प्रकार से विश्व-बन्धुत्व की सीमा से जाकर मिल जाती है—या यों कहें कि उसकी देश-भक्ति विश्व-भावना का ही एक रूप है। साकेत में मानव मात्र के परित्राण की कामना के अन्तर्गत ही देश-भक्ति का समावेश किया गया है—

> किसी एक सीमा पर बँध कर रह सकते हैं क्या ये प्राण;
> एक देश क्या अखिल-विश्व का तात चाहता हूँ मैं त्राण।

महात्माजी की अहिंसा का प्रभाव भी साकेत की संस्कृति पर स्पष्ट है। उसके युद्धोत्साह में समर्पण-त्याग की भावना अधिक है, दमन की इतनी नहीं—

'जाओ बेटा राम-काज, क्षण-भङ्ग शरीरा !'

परन्तु हिंसा की सर्वथा अमान्यता से साकेतकार सहमत नहीं है—

हमें शान्ति का भार है जो मिला
इसी चाप की कोटियों से झिला

वैसे तो गांधीजी की अहिंसा में भी युद्ध को स्थान है— परन्तु साकेत में उसकी आवश्यकता अधिक पौजिटिव है,

समग्र रूप में हम कह सकते हैं कि साकेतकार महात्माजी की अपेक्षा प्राचीनता की ओर अधिक आकृष्ट है—

परन्तु फिर भी साकेत गांधी-युग की ही रचना है इसमें कौन सन्देह करेगा ? वास्तव में उसके विचारों की आधार-शिला गांधी युग से पूर्व ही दृढ़ हो चुकी थी—इसीलिए वह गान्धीवाद के तात्विक रूप को न अपना कर केवल उसका व्यावहारिक रूप ही ग्रहण कर सका। यह पूर्ति उसके अनुज सियारामशरण गुप्त ने की।

अपनी संस्कृति का प्रभाव तो सभी कवियों पर थोड़ा बहुत पड़ता है, परन्तु जिन मनस्वियों की कविता लोक मङ्गल से प्रेरित होकर अपने देश और जाति की संस्कृति की प्रतिष्ठा एवं संरक्षा करती है वे अनेक नहीं होते। हमारे तुलसी, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त ऐसे ही कवि हैं।

(ई) चरित्र-चित्रण

चरित्र प्रधान काव्यः—साकेत चरित्र-प्रधान काव्य है, उसमें उर्मिला का चरित्र लक्ष्मण, राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या सुमित्रा आदि पात्रों के बीच विकसित होता है। ऐसे काव्य की सफलता के लिए यह वांछित है कि उसके सभी पात्र मुख्य पात्र के चरित्र पर घात-प्रतिघात द्वारा प्रभाव डालें तथा कभी परिस्थिति और कभी पृष्ठ-भूमि के रूप में उपस्थित होकर उसको प्रकाश में लावें। साकेत का चरित्र-चित्रण इस कसौटी पर खरा उतरता है। उसके सभी पात्रों का उर्मिला के चरित्र-विकास से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। कवि इस विषय में सदैव सतर्क रहा है। लक्ष्मण का जीवन तो उसके जीवन से प्रकाश से छाया की भाँति लिपटा हुआ है ही—उनकी निर्भय वीरवृत्ति का उसके चरित्र-विकास से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है! उधर राम की कर्तव्य-परायणता, सीता की एकान्त पति-लीनता, भरत की गुरुता, कैकेयी का क्षुधित पुत्र-स्नेह और सुमित्रा का उग्र मातृत्व भी उसके चरित्र-विकास में सहायक होते हैं। लक्ष्मण, राम, कैकेयी और सुमित्रा के चरित्र उसके लिए परिस्थिति उपस्थित करते हैं।

उधर सीता मांडवी और भरत कभी उसकी परिस्थिति पर प्रभाव डालते हैं, और कभी पृष्ठभूमि के रूप में आते हैं। इस प्रकार इन भिन्न-भिन्न पात्रों का स्पर्श करता हुआ उर्मिला का चरित्र आगे बढ़ता है।

कथा और प्रधान पात्र का सम्बन्ध—प्रधान पात्र के चरित्र से कथा की भिन्न-भिन्न घटनाओं का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कवि को प्रयास करना पड़ा है क्योंकि रामायण की सभी घटनायें राम से ही सम्बद्ध हैं। परन्तु फिर भी जिस कौशल से यह सब किया गया है वह कवि की प्रबन्ध-पटुता का द्योतक है, कथावस्तु के प्रसङ्ग में इसका विवेचन हो ही चुका है।

साकेत के चरित्रों के प्रकार—रामायण के पात्रों का विवेचन करते समय आचार्य शुक्ल ने दो प्रकार के चरित्रों की ओर निर्देश किया है—आदर्श और साधारण। मुझे इनको मानवीय और अमानवीय चरित्र कहना अच्छा लगता है। साकेत में अमानवीय चरित्र राम ही हैं—वे भी इसलिए कि आस्तिक कवि उनके गौरव से अभिभूत है-अन्यथा इस वैज्ञानिक युग के प्रतिनिधि कवि के लिए अमानवीय चरित्रों के सृजन में आनन्द लेना साधारणतः स्वाभाविक नहीं। यही कारण है कि साकेत के रावण और मेघनाद दोनों में कोई बात अमानवीय नहीं है। राम के अतिरिक्त सभी अन्य चीजों में देवत्व और दनुजत्व का असमान मिश्रण है। भरत देवत्व के बहुत निकट होते हुये भी दनुजत्व से सर्वथा अस्पृष्ट नहीं हैं। कैकेयी का दनुजत्व उनके दनुजत्व को कुछ क्षणों के लिए जाग्रत कर ही देता है। रावण और मेघनाद में दनुजत्व का अंश अधिक है, परन्तु देवत्व बिल्कुल न हो यह बात नहीं। रावण की सहृदयता पर एक बार राम स्वयं मुग्ध हो जाते हैं, मेघनाद पर तो कवि का काफी

ममत्व है। हाँ राम में दनुजत्व का सर्वथा अभाव है—परन्तु मानवोचित दुर्बलताएँ उनमें भी हैं—उनके अन्दर मोह एकाधिक बार प्रबल हो उठा है—

आता है जी में तात यही,
पीछे पिछले व्यवधान मही
झट लोटूं चरणों में आकर!

परन्तु उस पर तत्काल विजय प्राप्त करने का बल भी उनमें है—वह है धर्म—

पर धर्म रोकता है वन में

इसीलिए वे मानवत्व की कोटि से ऊपर उठ जाते हैं। साथ ही स्वयं कवि ने तुलसी की भाँति बार बार उनके ईश्वरत्व का स्मरण कराने का प्रयत्न किया है। यह उसकी अपनी कमजोरी है। वास्तव में गुप्तजी का कवि तो राम के मानवत्व पर ही मुग्ध है—परन्तु उनके अन्दर बैठा हुआ भक्त, राम के ईश्वरत्व से डरता है। इसीलिए उसे बार-बार कीर्तन भी करना पड़ा है जो संगत नहीं हुआ।

साधारण अथवा मानव पात्रों में एक भेद और मिलता है वह है संस्कार और परिस्थिति का। "संसार के रंगमच पर जो पात्र उतरते हैं उनमें कुछ ही ऐसे होते हैं जो सीखे सिखाये आते हैं। अधिकांश को यहीं सीखना पड़ता है। रामायण के अधिकांश पात्र प्रथम प्रकार के हैं।" (गुप्तजी का एक पात्र) कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ में संस्कार का प्राधान्य होता है और कुछ में परिस्थिति का। संस्कार प्रधान पात्रों पर परिस्थिति का प्रभाव अधिक नहीं पड़ता, वे प्रारम्भ से ही गढ़े गढ़ाये होते हैं, अतः उनके चरित्रों में विकास की गुञ्जायश नहीं होती—उनके चरित्रों में एक ही रङ्ग होता है। साकेत के भरत, सीता, कौशल्या,

माण्डवी, शत्रुघ्न, सुमित्रा—पात्र ऐसे ही हैं। उनका चरित्र एकसा ही रहता है। ऐसे चरित्रों के चित्रण में कवि को बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। प्रत्येक परिस्थिति में ये पात्र अपने व्यक्तित्व को ज्यों का त्यों बनाये रहते हैं—उनका एक वाक्य भी इधर उधर नहीं होता। उदाहरण के लिये साकेत की सुमित्रा को लीजिये। राम बनगमन के अवसर पर वह जिस कठोर मातृत्व का परिचय देती है, वह लक्ष्मण-शक्ति का दृश्य देख कर भी ठीक वैसा ही बना रहता है। उसके स्वर में तनिक भी लोच नहीं आता। इसी प्रकार माण्डवी के चरित्र में केवल एक रेखा है। कौशल्या की उदारता और भोली वात्सल्य-भावना सभी परिस्थितियों में एक सी रहती है।

मेरा राम न वन जावे, यहीं कहीं रहने पावे। (चतुर्थ सर्ग)

और

हाय गए सो गए रह गए सो रह जावें
जाने दूँगी तुम्हें न, वे आवें जब आवें [द्वादश सर्ग]

में अणुमात्र भी अन्तर नहीं।

दूसरे प्रकार के पात्र वे हैं जिनमें संस्कार इतने प्रबल नहीं हैं कि परिस्थितियों का प्रभाव उन पर पड़ सके। उनका चरित्र परिस्थितियों के घात-प्रतिघात द्वारा उठता गिरता है। यदि उनके संस्कार शुद्ध हैं तो चरित्र उठेगा, नहीं नीचे फिसलता जायगा। साकेत में उर्मिला, लक्ष्मण और कैकेयी ये तीन पात्र ऐसे ही हैं। उर्मिला के चरित्र का विकास परिस्थितियों के प्रतिघात से होता है और उसकी त्याग-वृत्ति धीरे-धीरे उन पर विजय-लाभ करती हुई आदर्श की ओर बढ़ती है। उसका आदर्श आत्म-त्याग संस्कार रूप में उसे प्राप्त नहीं है—वह धीरे-धीरे विकसित होता है। पहिले तो वह उस त्याग को

विवश भाव से ही मानती है, परन्तु बाद में जाकर वह सती और लक्ष्मी को भी पीछे छोड़ देती है—अन्त में लक्ष्मण के दर्शन पाकर उसका नारीत्व फिर जाग्रत हो जाता है और लक्ष्मण के यह कहने पर भी कि 'धन्य अनावृत प्रकृत-रूप यह मेरे आगे' उसे यही चिन्ता होती है किन्तु 'कहाँ वे अहोरात्रि के साँझ सबेरे।' इसी प्रकार कैकेयी का चरित्र भी परिस्थितियों का ही परिणाम है। मन्थरा उसके लिए परिस्थिति का सृजन करती है, और वह विरोध करने पर भी उसके वशीभूत हो जाती है। परन्तु दशरथ की मृत्यु होते ही परिस्थिति फिर बदलती है और रानी का संस्कार प्रबल होने लगता है—

> रोना उसको उपहास हुआ
> निज कृत वैधव्य-विकास हुआ,
> तब वह अपने से आप डरी,
> किस कुसमय में मन्थरा मरी!

तभी से प्रायश्चित का आरम्भ होता है जो भरत के शब्दों द्वारा तीव्रतर होता हुआ चित्रकूट में जाकर पूर्ण हो जाता है। यह बात लक्ष्मण के चरित्र में और भी स्पष्ट है। उनके लिए परिस्थिति हैं राम, जिनके प्रभाववश वे धीरे-धीरे संयत होते जाते हैं। कवि ने लक्ष्मण और कैकेयी के चरित्रों में संस्कार और परिस्थिति का संस्कार बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किया है। इन दोनों के चरित्रों में उनके संस्कारों को विषम परिस्थितियों के आघात सहने पड़ते हैं। उर्मिला का संस्कार केवल नारी की दुर्बलता मात्र है जो पति की गौरव-भावना के सम्मुख सहज ही नत-शिर हो जाती है—अतः वहाँ यह संघर्ष विरोध की मात्रा उतनी तीव्र न होने के कारण, इतना स्पष्ट नहीं है! वास्तव में उन दोनों चरित्रों के विकास की रेखाएँ बड़ी पुष्ट हैं। चरित्र-

विकास के इतने स्पष्ट उदाहरण काव्य में अधिक नहीं मिलेंगे।

संस्कार और परिस्थितियों के अतिरिक्त कवि की अपनी भावनाएँ भी चरित्रों पर प्रभाव डालती हैं। ऐसे लेखक बहुत कम होते हैं जो अपने व्यक्तित्व को सर्वथा निर्लिप्त रखते हुए पात्रों को रङ्गमञ्च पर स्वतन्त्र छोड़ देते हों। फिर गुप्तजी ठहरे आदर्शवादी भक्त, अतः उनसे यह आशा करना व्यर्थ है। उनके सभी पात्र आदर्श की ओर उन्मुख रहते हैं। साथ ही उनकी अपनी भावनाओं की प्रतिध्वनि भी यत्र-तत्र मिलती रहती है। हनुमान और भरत में कवि प्रायः स्वयं आकर बोलता है, और विभीषण का चरित्र तो उसके अपने विचारों का ही प्रतिबिम्ब है। कवि स्पष्टतः विभीषण को पीछे हटा कर आप उसकी ओर से सफाई दे रहा है। उधर लक्ष्मण, कैकेयी आदि के लिए भी उसे किसी न किसी रूप में कई बार बोलना पड़ा है।

दोष परिहार की प्रवृत्ति—कवि की यह दोष परिहार की प्रवृत्ति इस युग की विभूति है। मानव दुर्बल प्राणी है। उसकी दुर्बलताएँ स्वभावगत हैं—अतः उनके साथ सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए। घृणा करने से उनका परिष्कार नहीं हो सकता। आधुनिक युग की यही प्रमुख भावना साकेत के सदोष पात्रों के चित्राङ्कन में सदैव सचेत रही है। हमारे दोष किसी स्वभावगत विशेषता के ही विकृत परिणाम होते हैं। यह एक स्वीकृत सत्य है। इसीलिए कवि को उनकी मूलवर्तिनी भावना की खोज करनी पड़ी है। यहाँ पात्र के स्वर में स्वयं कवि का अपना स्वर स्पष्ट सुनाई देता है। एक उदाहरण मेरे कथन को पुष्ट कर देगा। साकेत के लक्ष्मण कुछ अधिक स्वच्छन्द हैं। उनमें क्रान्ति की भावनाएँ वर्तमान हैं। वे कैकेयी, सीता, दशरथ तीनों से

कटु-वाक्य कहते हैं। यह उनका अपराध है और इसके लिए वे दोषी हैं। कवि जानता है कि पाठक लक्ष्मण के इस अपराध पर क्षुब्ध होगा अतः वह उस अपराव की मूल-वर्तिनी-भावना की ओर जाता है। यह भावना है राम के प्रति प्रेम जो आत्म-समर्पण की सीमा तक पहुँच गया है। अतः वे जो कुछ करते या कहते हैं, वह अपने लिए नहीं, राम के लिए। ऐसी दशा में उनका अपराध स्वार्थ-मूलक नहीं है। स्वार्थ के लिए किया हुआ दोष घृण्य है, परन्तु स्वार्थ-भावना से मुक्त दोष नहीं, वरन् बहकी हुई मनोवृत्ति ही है। इसलिए वह राम के द्वारा लक्ष्मण के चरित्र का विश्लेषण कराता है। लक्ष्मण जब पिता से कटु शब्द कहते हैं, तो राम उनको समझाते हैं—

मुझे जाता समझ कर आज वन को
न यों कलुषित करो प्रेमान्ध मन को!
तुम्हीं को तात यदि वनवास देते,
उन्हें तो क्या तुम्हीं यों त्रास देते॥

अन्तिम दो पंक्तियों में राम का लक्ष्मण को समझाना मात्र नहीं है—यहाँ स्पष्ट रूप में कवि लक्ष्मण के दोष-परिहार का प्रयत्न कर रहा है। दशरथ इस बात को और साफ कर देते हैं—

स्वयं निःस्वार्थ हो तुम, नीति रक्खो;
न होगा दोष कुछ, कुल रीति रक्खो।

अब भी यदि पाठक क्षुब्ध होता है तो कवि कह सकता है—"मुझे चिन्ता नहीं मेरे लक्ष्मण को दशरथ ने तो समझ लिया। बस यही काफी।"

पात्रों का व्यक्तित्व—परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये पात्र प्रतिध्वनि मात्र ही हैं और उनका व्यक्तित्व नहीं है। साकेत का एक-एक पात्र अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। उर्मिला, भरत, लक्ष्मण, कैकेयी, सीता आदि प्रमुख चरित्रों

का व्यक्तित्व तो स्पष्ट है, माण्डवी, शत्रुघ्न, सुमित्रा, हनूमान, विभीषण आदि की भी व्यक्तित्व विशेषताएँ असन्दिग्ध हैं। इन गौण चरित्रों में माण्डवी का चरित्र तो अद्भुत है। उसके व्यक्तित्व की रेखाएँ तो असामान्य रूप से पुष्ट हैं। शत्रुघ्न और सुमित्रा के विषय में भी यही कहा जा सकता है। आप उनके शब्दों को सुनकर ही वक्ता का अनुमान लगा सकते हैं। अन्तिम सर्ग में भरत और शत्रुघ्न के वक्तव्य करीब-करीब मिले जुले हैं, परन्तु उनके चरित्रों से अभिज्ञ पाठक तुरन्त ही वक्ता को पहचान सकता है। माण्डवी, उर्मिला, सीता तीनों बहिनें हैं परन्तु कितनी भिन्न! सुमित्रा, कैकेयी और कौशल्या का मातृत्व भी कितना भिन्न है। कहीं-कहीं पर अन्तर बड़ा सूक्ष्म है। उदाहरण के लिए लक्ष्मण और शत्रुघ्न में। दोनों भाइयों ने उग्र क्रान्तकारी भावनाएँ माता से प्राप्त की हैं....उनमें यह समानता काफी गहरी जाती है—परन्तु फिर भी लक्ष्मण और शत्रुघ्न दो पृथक् व्यक्ति हैं। लक्ष्मण और शत्रुघ्न में अन्तर है भावुकता का। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यक्तित्वशाली ये सभी पात्र जीवन से ओत-प्रोत हैं।

व्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त उनमें जातिगत विशेषताएँ भी अनिवार्य रूप से मिलती हैं। कैकेयी, माण्डवी, सीता, उर्मिला सभी में स्त्रियोचित भावनाएँ स्थान-स्थान पर मिलेंगी। कैकेयी की सापत्न्य, मातृत्व, भाई पर गर्व—आदि भावनाएँ स्त्री की स्वाभाविक भावनाएँ हैं। उर्मिला अन्त तक नारी ही बनी रहती है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न और सुमित्रा का क्षत्रियत्व उनकी जातिगत सम्पत्ति है। भरत जैसा निस्पृह साधु भी क्षत्रियत्व से शून्य नहीं है। उधर सुमित्रा, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के स्वभावों में प्रधान तत्व की समानता द्वारा कवि ने वंश-क्रमागत विशेषता का सूत्र भी रक्खा है। यह सूत्र कौशल्या और राम के

भाव में भी मिलता है। माता और पुत्र दोनों में क्षमावृत्ति की समानता है। दूसरे के दोषों का अच्छा अर्थ निकाल कर उन्हें सर्वथा भुला देने की साधु-प्रवृत्ति राम और कौशल्या दोनों में पाई जाती है। वन गमन का आदेश सुन कर दोनों कैकेयी के विषय में एक ही बात कहते हैं—

पुत्र स्नेह धन्य उनका
हठ है हृदय-जन्य उनका! (कौशल्या)
मां ने पुत्र-वृद्धि चाही
नृप ने सत्य-सिद्धि चाही (राम)

पश्चिम में चरित्र चित्रण की यह अत्यन्त प्रचलित प्रणाली है।

स्वाभाविकता:—सजीव पात्र स्वाभाविक भी हों यह आवश्यक नहीं—विशेषकर महाकाव्य के पात्रों में स्वाभाविकता सर्वत्र नहीं मिल सकती। उसकी प्रकृति में अलोकिक के लिए स्थान होने के कारण उसके पात्र भी प्रायः अलौकिक शक्तियों से युक्त होते हैं। परन्तु जैसा कि मैं पूर्व ही कह चुका हूँ, साकेत का कवि वैज्ञानिक युग का कवि है—अतः उसके पात्रों में अलौकिक गुण सम्भावना से परे नहीं मिलते। हाँ, साकेत के प्रायः सभी चरित्र हमारे साधारण जीवन से ऊपर हैं। उनमें असाधारणतायें हैं जो हमारे हृदय में विस्मय, श्रद्धा और किंचित् भय का भी सञ्चार करती हैं, परन्तु अस्वाभाविकता कहीं नहीं है। उर्मिला और भरत जैसे मनुष्य हमारे लोक-जीवन में मिल ही जाते हैं। इसका कारण यह कि कवि ने चरित्र के सभी अङ्गों का विश्लेषण किया है। मनुष्य के श्वेत, श्याम दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उसकी कैकेयी में ये दोनों रेखायें बड़े सुन्दर ढङ्ग से मिली-जुली हैं। भरत जब कैकेयी को भर्त्सना देते हुए कहते हैं—

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र स्नेह,

खा गया जो भूनकर पति-देह ।

तो वह एक साथ मानों लांछिता रानी के शब्दों में कह उठता है—

चुप अरे चुप, कैकेयी का स्नेह,
जान पाया तू न निस्सन्देह ।
पर वही यह वत्स, तुझमें व्याप्त,
छोड़ता है राज-पद भी प्राप्त ।

इसका कारण यह है कि कवि मानव चरित्र की जटिलताओं को भली भाँति पहिचानता है और साथ ही उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में पूर्णतया समर्थ है। मानसिक संघर्षों और हृदय की गुंफित अंतर्वृत्तियों को गुप्तजी की सूक्ष्मदृष्टि बड़े कौशल से सुलझाना जानती है। उर्मिला के चरित्र-विकास में अर्ध-विस्मृत अवस्था का सफल विश्लेषण इसका साक्षी है। विरह वर्णन के प्रसङ्ग में 'आओ' और 'जाओ' के इस सङ्घर्ष की व्याख्या की जा चुकी है। कभी-कभी जटिलताओं के उपस्थित हो जाने पर कैकेयी जैसे पात्र अपने भावों का बड़ा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्याख्यान करते हैं। एक उदाहरण लीजिए—कैकेयी भरत को क्या—समस्त संसार को—अपने कृत्यों की सफाई दे रही है—

सब करें मेरा महा अपवाद
किन्तु तू तो न कर हाय ! प्रमाद !
हो गए थे देव जीवनमुक्त,
उचित था जाना न ऋण-संयुक्त ।
ले लिए इस हेतु वर युग लभ्य,
उचित मानेंगे इसे सब सभ्य ।
'क्या लिया' बस है यही सब शल्य,
किन्तु मेरा भी यहीं वात्सल्य ।

साथ ही, कब किसको कैसा उत्तर देकर प्रभावित किया जा सकता है, इसका सूक्ष्म परिज्ञान भी साकेत के सभी पात्रों को

है ! 'संवाद' के विवेचन में इसका और स्पष्टीकरण हो जायगा।

चरित्र-चित्रण की शैलीः—उपन्यास लेखक की भाँति प्रबन्ध काव्य-कार को भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूप में चरित्र-चित्रण करने की सुविधा रहती है। वह स्वयं अपनी ओर से पात्रों के विषय में कह सकता है, साथ ही आपके सम्मुख उनको काम करते और कहते सुनते हुए उपस्थित करके आपको भी उनके विषय में अपनी धारणा बनाने का अवसर दे सकता है। पहिले रूप में वह स्वयं बोलता है, दूसरे में उसके पात्र की करतूतें बोलती हैं। सजीवता की दृष्टि से दूसरी प्रणाली ही उत्तम है, क्योंकि उसमें पाठक को कवि की बातें मानने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता, और साथ ही वह पात्रों को अधिक स्पष्ट और निकट से देख समझ भी सकता है। हाँ ऐसा करने में कवि के अपने शब्द आप्त वाक्य के रूप में उसे सहायता अवश्य दे सकते हैं। साकेत में प्रबन्ध, नाटक और गीत तीनों तत्वों का सम्मिश्रण है। अतः कवि ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से विवरणात्मक और अभिनयात्मक दोनों प्रणालियों को अपनाया है। परन्तु फिर भी विवरण का प्रयोग उसने चरित्र-चित्रण में बहुत ही कम किया है। अपने पात्रों के विषय में उसने स्वयं एकाध वाक्य ही कहा है। परन्तु उस वाक्य में उसके चरित्र का बीज रहता है जो परिस्थिति, कार्य-व्यापार, कथोपकथन आदि उपकरणों द्वारा पल्लवित होता चलता है। कौशल्या और सुमित्रा के विषय में कवि अपनी ओर से केवल एक बात कहता है; कौशल्या को 'मूर्तिमती ममता-माया' और सुमित्रा को 'सिंही-सदृश क्षत्रियाणी'—बस। दोनों की ये ही विशेषताएँ आगे भिन्न-भिन्न अवसरों और परिस्थितियों में किसी न किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं। कौशल्या के प्रत्येक शब्द में, उनके प्रत्येक कृत्य में ममता की प्रेरणा है। उधर सुमित्रा का क्षत्रियत्व भी सदैव उद्‌बुद्ध रहता

है। इसी प्रकार लक्ष्मण का परिचय कवि एक पंक्ति में देता है!

शौर्य-सह सम्पत्ति लक्ष्मण-उर्मिला

लक्ष्मण का यही शूर रूप आगे चल कर अभिनयात्मक ढङ्ग से विकसित होता है। उनके अपने शब्द, उनके कृत्य दूसरों के उनके विषय में शब्द, सभी इस शूरता का व्याख्यान करते हैं। वनवास के समय उनका क्रोध, चित्रकूट में भरत-आगमन पर उनका क्षोभ, जनकपुर में उनका दर्प, सीता के कटुवाक्य सुनकर उनका उत्तर, राम-रावण युद्ध में उनका रण-कौशल, शक्ति के उपरान्त संज्ञा प्राप्त करते ही तुरन्त मेघनाद को याद करना—आदि सभी बातें लक्ष्मण के ठेठ वीरत्व पर प्रकाश डालती हैं। उधर राम, उर्मिला, सुमित्रा, शत्रुघ्न, भरत, दशरथ, मेघनाद सभी उनकी इसी विशेषता का बार-बार उल्लेख करते हैं।

राम— क्षत्रियत्व कर रहा प्रतीक्षा तात तुम्हारी।

भरत— हय उड़ाकर उछल आप समक्ष,
प्रथम लक्ष्मण ने धरा ध्वज लक्ष!

शत्रुघ्न— तुम यहाँ थे हाय, सोदरवर्य्य!
और यह होता रहा आश्चर्य!
वे तुम्हारे भुज-भुजंग विशाल,
क्या यहाँ कीलित हुए उस काल!

उर्मिला— माना तूने मुझे है तरुण-विहारिणी,
वीर के साथ ब्याही!

दशरथ— तदपि सत्पुत्र हो तुम शूर मेरे!

मेघनाद— तूने निज नर-नाट्य किया प्राणों के पण से।
इस पौरुष के पड़े अमरपुर में भी लाले,

❀ ❀ ❀

अभिनयात्मक प्रणाली की सफलता इसी में है कि पात्र जो सोचे, जो कहे और जो करे, एवं दूसरे उसके विषय में कहें उस में पूर्ण सामञ्जस्य हो। साकेत के चरित्र-चित्रण की यह सफलता असंदिग्ध है। चरित्र-अङ्कन के लिए कवि ने कथोपकथन, स्वगत भाषण, गीत आदि अनेक उपकरणों का उपयोग किया है। परन्तु इस विषय में वह बड़ा सतर्क रहा है, अतः उसके चरित्र-चित्रण में कहीं असङ्गति नहीं आने पाई।

अभिनय की एक और प्रवृत्ति का कवि ने प्रयोग किया है। वह यह कि उसके पात्र प्रायः सदैव दो दो करके सामने आते हैं। यह बड़ा प्राचीन नाटकीय प्रयोग है। दशम सर्ग में अवश्य सरयू को उर्मिला की सहचरी बनाना पड़ा है, परन्तु वहाँ केवल वर्णन मात्र है इसलिए इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। पहिले सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण हैं, दूसरे में कैकेयी और मन्थरा, तीसरे में राम लक्ष्मण, चौथे में कौशल्या और सीता, फिर कौशल्या और सुमित्रा, छठे में दशरथ और कौशल्या, सातवें में भरत और शत्रुघ्न, फिर भरत और कैकेयी और अन्त में फिर भरत और शत्रुघ्न। आठवें में सीता और राम, तदुपरान्त राम और लक्ष्मण, राम-भरत, राम-कैकेयी। ग्यारहवें में भरत-माण्डवी, और अन्त में सुमित्रा-कौशल्या हैं।

इससे कथोपकथन का अवसर मिल जाने के कारण चरित्र-चित्रण में सुविधा तो होती ही है—परन्तु साथ ही वैषम्य अथवा साम्य के द्वारा दोनों पात्रों की चरित्र-गत विशेषताएँ अधिक स्पष्ट होती चली जाती हैं। दोनों पात्र एक दूसरे की सापेक्षता में अपने को उपस्थित करते हैं—या यों कहें कि दोनों एक दूसरे के लिए बैक-ग्राउण्ड का काम देते हैं। वैषम्य और साम्य का यह उपयोग साकेत में बड़ी कुशलता से किया गया है। राम

और लक्ष्मण दोनों भाई हैं परन्तु एक-दूसरे से नितान्त भिन्न—राम की क्षमा-वृत्ति लक्ष्मण की असहनशीलता के द्वारा स्पष्ट होती है और लक्ष्मण का चपल वीर-दर्प राम की गम्भीरता की छाया में चमकता है। इसी प्रकार भरत की शान्ति और विनय एवं शत्रुघ्न का औद्धत्य एक दूसरे को प्रकाश में लाते हैं। उधर सुमित्रा, कैकेयी और कौशल्या तीनों का मातृत्व भी उनके भिन्न स्वभावों को प्रकट करता है—कैकेयी का 'क्षुधित पुत्र-स्नेह' कौशल्या का अनिष्ट-भीरु सरल मातृत्व और सुमित्रा का कठोर मातृत्व एक-दूसरे की पुष्टि करते हैं। साम्य दशरथ और कौशल्या में, भरत और राम में, शत्रुघ्न और लक्ष्मण एवं सीता और कौशल्या में पाया जाता है।

चरित्र-चित्रण में मौलिक उद्भावनाएँ—साकेत के अधिकांश पात्र कवि को परम्परा से प्राप्त हैं—वाल्मीकि, तुलसी एवं अन्य कवियों ने उनका चरित्र-चित्रण कर लोक की एक निश्चित धारणा बना दी है। परन्तु साकेतकार ने इस परम्परा का आश्रयमात्र ही लिया है। उसके सभी पात्र अपने हैं—उर्मिला और माण्डवी तो नितान्त उसकी ही सृष्टि है—अन्य सभी पात्रों के चरित्रों में भी उसने मौलिक नवीनता का समावेश किया है। उसके लक्ष्मण, दशरथ और कैकेयी मे सर्वथा भिन्न हैं। शत्रुघ्न, सुमित्रा अधिक सजीव हैं। सुमित्रा के लिए उसे गीतावली में संकेत मिला है। हाँ राम, सीता और कौशल्या में अधिक परिवर्तन नहीं है। राम की प्रतिभा में साकेतकार ने भी अनन्त शील, अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य का समावेश किया है—परन्तु उनमें मानवत्व कुछ अधिक है—साथ ही कुछ नवीनता भी है।

राम के—मैं यहाँ एक अनन्य छोड़ने आया,

गढ़ने आया हूँ नहीं तोड़ने आया।

\+ + +

सन्देश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

आदि शब्दों में ईसा के शब्दों की प्रतिध्वनि काफी स्पष्ट-सी है। सीता में मानस की सीता की अपेक्षा कुछ 'क्रिया-शीलता' अधिक है। कैकेयी तो एक-दम बदल गई है। युग-युग की लांछिता रानी को भव्य माता के रूप में देख वृद्ध जग आज चकित है।

साकेत के चित्रकूट प्रसंग में इसकी द्रवित ग्लानि शत सहस्रधा होकर बही है—जिसमें उसका लांछन धुल कर स्वच्छ हो गया है। आज हम सभी चित्रकूट की सभा की भाँति चिल्लाकर कहने को तैयार हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।

साकेत के लक्ष्मण में मानस के लक्ष्मण की अपेक्षा उग्रता कुछ अधिक है—(वाल्मीकि के लक्ष्मण तो इतने ही उग्र हैं) परन्तु यह उग्रता बड़ी स्वाभाविक है। मानस के लक्ष्मण, राम और सीता के सम्मुख कुछ अस्वाभाविक रूप से विनम्र बन जाते हैं—परन्तु साकेत का वीर क्षत्रिय अपने स्वभावगत दर्प को इन दोनों के समक्ष भी बनाये रखता है। एक ओर वह अपने क्षत्रियत्व को अकारण चेलेञ्ज करने वाली सीता को दृढ़तापूर्वक उचित उत्तर देता है तो दूसरी ओर राम का प्रतिषेध भी सुनने को तैयार नहीं है। कैकेयी और दशरथ के प्रति उसके कटुशब्द सुनकर चाहें हम क्षुब्ध हो जायँ—परन्तु लक्ष्मण का यह स्वरूप हमको मुग्ध करता है। उसकी यह एंठ बाँकी है—साथ ही स्वार्थ से निर्मुक्त भी, दशरथ कुछ अधिक मोहा-

विभूत दिखाये गये हैं। उनके मोहाधिक्य पर महात्मा गांधीजी ने भी आपत्ति की थी। राम भी इसकी ओर संकेत करते हैं। वास्तव में उनके प्रलाप को सुनने के बाद कवि के

> दानव भय हारी देह मिटा,
> वह राज गुणों का गेह मिटा!

आदि शब्दों पर विश्वास नहीं होता।

पात्रों का प्रभाव:—इस प्रकार के वैषम्य के होते हुये भी साकेत का चरित्र-चित्रण मानस के चरित्र-चित्रण से कम सफल नहीं है। उसके चरित्रों का मनोवैज्ञानिक आधार तो अधिक पुष्ट है ही। इसलिये पात्रों के व्यक्तित्व की मध्यवर्तिनी रेखायें अत्यन्त स्पष्ट हैं। साथ ही साकेत के पात्र अधिक सजीव हैं। वे असाधारण व्यक्तित्व के मनुष्य हैं—परन्तु हैं मनुष्य ही, अतः हमारे अधिक निकट हैं। अँग्रेजी उपन्यासकार थैकरे ने चरित्र-चित्रण की शक्ति को जादू की शक्ति बतलाया है। उनको ऐसा अनुभव होता था मानो वह उनके हाथ से कलम छीन कर स्वयं लिखने बैठ जाती हो और उनकी इच्छा अनिच्छा की चिन्ता न करते हुये पात्रों को स्वच्छन्द छोड़ देती हो। इस शक्ति का अस्तित्व कलाकार साधक का अन्तर स्पष्ट कर देता है—यहां प्रयत्न और प्रतिभा में विभाजन हो जाता है। साकेत की उर्मिला में प्रयत्न-कलाकार की तूलिका के चिन्ह दिखाई देते हैं। कैकेयी के अङ्कन में कलम उसके हाथ से छिन गई है—और माण्डवी की सृष्टि तो मानो अपने आप ही हो गई है। साकेत की ये तीन अमर सृष्टियाँ हैं जो लोक के स्मृति-पटल पर अनन्त काल तक अङ्कित रहेंगी।

साकेत की शैली और उसके प्रसाधन

साकेत प्रबन्ध काव्य है। कवि का अपना प्रयत्न उसको महाकाव्य-रूप में लिखने का रहा है। अतः उसकी शैली में प्रबन्ध की विशेषता होना स्वाभाविक है। आचार्यों ने स्थूल रूप से काव्यगत तीन प्रकार की शैलियों का निर्देश किया है—गीति-शैली, नाटक-शैली, और प्रबन्ध-शैली। गीति तत्व में कोमल भावना और उद्गीतिका, नाटक-तत्व में परिस्थिति चित्रण और प्रबन्ध-काव्य में कथा-वर्णन का प्राधान्य होता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत दूर तक नहीं जाता, और न कोई कवि ही इस प्रकार की सीमाएँ बाँध कर काव्य रचना करने बैठता है। नाटक में भी गीत का समावेश होता है—और प्रबन्ध में तो गीत और नाटक दोनों तत्व ओत-प्रोत होते ही हैं। हाँ यह मानना अनिवार्य है कि काव्य की प्रकृति का कवि की शैली पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। प्रबन्ध काव्यकार को गीत की अपेक्षा वर्णन को अधिक महत्व देना पड़ेगा, क्योंकि प्रबन्ध में घटनाओं का क्रमिक बन्धन सबसे पहिली चीज है। अतः साकेत की शैली में सबसे पूर्व उसके कथा-वर्णन का विवेचन करना ही संगत होगा।

(अ) वृत्त-वर्णन (narrative)

अँगरेजी साहित्य में वर्णन के दो प्रकार कहे गए हैं—एक में कथा का अर्थात् घटनाओं का समय के क्रम से वर्णन होता है, दूसरे में वस्तुओं का स्थान के क्रम से। परन्तु इन दोनों की सीमाएँ इतनी मिली जुली हैं कि उनके बीच में कोई विभाजक रेखा खींचना कठिन है—फिर भी इतना निश्चित है कि एक में कथा की घटनाओं का वर्णन और दूसरे में वस्तु के अवयवों का चित्रण मुख्य है।

कथा प्रवाह:—कथा-वर्णन का सबसे प्रधान तत्व है प्रवाह (Movement)। जिस कथा में अविच्छिन्न धारा-प्रवाह नहीं है वह कम से कम महाकाव्य के उपयुक्त नहीं हो सकती। साकेत में, जैसा मैंने पूर्व ही निवेदन किया है, धारा-प्रवाह अविच्छिन्न नहीं है। उसमें तो प्रायः मुख्य-मुख्य दृश्यों को चुनकर उनको अन्वित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए साकेत का प्रथम दृश्य है उर्मिला-लक्ष्मण प्रेम-परिहास जो अभिषेक की सूचना देता है और दूसरा है कैकेयी-मन्थरा संवाद जिसमें वियोग का बीज-वपन होता है। यहाँ पाठक देखेंगे कि कवि तीन-चार पंक्तियों द्वारा दशरथ और उनकी रानियों के सुख वैभव का परिचय कराकर उक्त दोनों दृश्यों को झट से जोड़ देता है—

मोद का आज न ओर न छोर,
आम्र-वन-सा फूला सब ओर।
किन्तु हा! फला न सुमन-क्षेत्र,
कीट बन गये मन्थरा-नेत्र।

यह आम्र-वन के रूपक को पकड़ कर मन्थरा के नेत्रों को तुरन्त ही कीट बनाता हुआ, दूसरे दृश्य को आरम्भ कर देता है। इसके आगे कथा छोटे-छोटे दृश्यों द्वारा बढ़ती है। एक

ओर कैकेयी की ईर्ष्या और रोष का चित्र है, दूसरी ओर कौशल्या के आह्लाद का, फिर उर्मिला-लक्ष्मण का वार्तालाप है। तत्पश्चात् राम की मनोदशा का वर्णन है और अन्त में दशरथ की चिन्ता का चित्रण। इस प्रकार कथा अग्रसर हो जाती है और लौटते हुये दशरथ को कैकेयो के शान्त गृह की ओर एक साथ आकृष्ट कराकर कवि फिर एक मुख्य दृश्य दशरथ-कैकेयी-संवाद पर आ जाते हैं। संवाद बढ़ते-बढ़ते बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से वर-याचना-प्रसङ्ग पर आता है। दशरथ कैकेयी को मनाते हुये उससे कुछ माँगने के लिए कहते हैं और कहते-कहते उन्हें पहिले दिए हुय दो वरदानों की याद आजाती है। बस कैकेयी को इष्ट-साधन का अवसर हाथ लगता है। इस प्रकार यद्यपि कवि को कहीं-कहीं अन्विति के लिए प्रयास करना पड़ा है परन्तु जोड़ सर्वत्र लक्षित नहीं होता—कथा की घटनायें प्रायः एक दूसरे से निकली हुई चलती हैं। एक आध स्थान पर यह बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है। शत्रुघ्न राक्षसों की कथा कह रहे थे कि भरत की दृष्टि हनूमान पर पड़ती है और वे 'think of the devil and he is th-re' के अनुसार उनको मायावी राक्षस समझ कर वाण द्वारा धराशायी कर लेते हैं। इस प्रकार तुरन्त ही हनूमान के द्वारा कथा को आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त होता है।

कथा में दृश्यों का प्राधान्य होने के कारण कवि को घटनाओं के बीच में शीघ्रता से बार-बार प्रवेश करना पड़ा है। दशरथ एक ओर कैकेयी का वर-प्रस्ताव सुनकर मूर्छित होते हैं, दूसरी ओर राम तुरन्त ही लक्ष्मण के साथ 'चलो पितृ वन्दना करने चलें अब' कह कर उनके पास नमस्कार करने जाते हैं और इस प्रकार वनवास की सूचना के लिये राम को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इसी तरह भरत के आगमन पर कवि तुरन्त ही

हँस रही यह मन्थरा क्यों धूर ?

× × ×

भेद है इसमें निहित कुछ गूढ़,

कहकर वांछित प्रसङ्ग पर आ जाता है। कभी-कभी कथा की गति को बढ़ाने के लिये पात्र स्वयं सीन पर आ जाते हैं। जैसे भरत जब शोकग्रस्त होकर किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं तो वशिष्ठ शीघ्र अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं और भावी कार्यक्रम निश्चित होने से कथा में गति आती है।

कथा-वर्णन में वाक् संयम—साकेत के कथा-वर्णन में कवि ने संयम का बड़ा सुन्दर और कलामय प्रयोग किया है। लगभग सभी स्थानों पर जहाँ परिस्थिति गम्भीर हो गई है—जहाँ पर भावनाओं में संकुलता है, कवि ने विस्तृत वर्णन या विवेचन नहीं किया। उसने सदा वाक् संयम प्रायः मौन से काम लिया है। यह भावुकता का अनुरोध भी है और शैली का प्रसाधन भी—इससे एक ओर भाव की अभिव्यक्ति पूर्ण होती है, दूसरी ओर वर्णन में प्र. साथ गतिरोध होने से कथा में विचित्रता आ जाती है। राम-वनगमन के समय तुलसीदास में सीता और लक्ष्मण दोनों से राम को काफी विवाद करना पड़ता है, तब कहीं जाकर उनका सहगमन निश्चित होता है। साकेत में भी यद्यपि बाद में ऐसे हुआ है क्योंकि यह अनिवार्य था, परन्तु लक्ष्मण और सीता के निश्चय की ओर कवि एक पंक्ति में संकेत कर देता है।

लक्ष्मण—विदा की बात किससे और किसकी

अपेक्षा कुछ नहीं है नाथ इसकी।

सीता—कहाँ क्या वे प्रिय जाया,

जहाँ प्रकाश वहीं छाया।

इसी प्रकार भरत के आगमन पर कैकेयी तुरन्त ही एक साँस में उनसे अपनी कृति का उल्लेख कर देती है—

वत्स, मेरा भी इसी में सार,
जो किया, करलूँ उसे स्वीकार।
प्रभु गये सुरधाम, वन को राम।
माँग मैंने ही लिया कुल-केतु,
राजसिंहासन तुम्हारे हेतु।

दशरथ से वर-यांचना भी एक साथ कर लेती है। इनके अतिरिक्त साकेत के अनेक स्थल जैसे चित्रकूट में लक्ष्मण-उर्मिला मिलन, अन्तिम महामिलन आदि मेरे कथन का समर्थन करेंगे।

कथा-वर्णन के उपकरण—कवि ने कथा-वर्णन के लिए कथोपकथन दृश्य-चित्रण आदि की सहायता तो प्रायः ली ही है; कुछ स्थानों पर भाषण और स्वगत का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए वर-याचना की बात सुनकर शत्रुघ्न का क्रान्तिकारी भाषण, चित्रकूट में सीता का स्वगत-गान और फिर कैकेयी का भाषण, एवं अन्त में शत्रुघ्न का उद्बोधन आदि उपस्थित किये जा सकते हैं। यद्यपि उनका मुख्य प्रयोजन चरित्र-चित्रण ही है, परन्तु फिर भी कथा में रोचकता की अभिवृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अनुमान का सहारा लेकर भी सम्बन्ध निर्वाह किया है और वर्णन को संयत किया है। चित्रकूट में राम को पिता-मरण की सूचना की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे

उस सरसी-सी, आभरण-रहित, सित वसना,

माता को देखकर स्वयं ही 'हा तात' कह कर चीत्कार कर उठते हैं।

इतिवृत्त—साकेत की प्रासङ्गिक कथाओं का वर्णन प्रायः इतिवृत्त रूप में हुआ है। उर्मिला रघुराजाओं की वंश-परम्परा, राम-लक्ष्मण का जन्म और शैशव, ताड़का-वध, प्रथम-मिलन, धनुप-यज्ञ तथा अपने बाल्यकाल आदि का वर्णन सरयू से करती है। यह वर्णन 'स्मृति' रूप से किया गया है। अतः वे प्रसंग जिनका उसके जीवन से गहरा सम्बन्ध है, अथवा यों कहिये कि जिनका उसकी स्मृति पर अधिक प्रभाव है, स्वतः भाव-पूर्ण हो गये हैं। उदाहरण के लिए सीता उर्मिला की बाल-क्रीड़ा, प्रथम-मिलन, तथा धनुप-यज्ञ की ओर सरलता से संकेत किया जा सकता है। इन स्थलों पर कथा की गति उच्छ्‌व-सित होती है और वर्णन में स्पन्दन आ जाता है। आगे हनुमान को भी वर्णन की यही शैली अपनानी पड़ी है। हनुमान के पास बहुत थोड़ा समय था और उनको 'सीता-हरण' से लक्ष्मण-शक्ति तक की सभी घटनाओं की सूचना देनी थी। कवि यदि चाहता तो उनमें से कुछ को छोड़ सकता था, परन्तु

भी विस्तार की आवश्यकता नहीं रह गई। फिर भी कथा-प्रवाह कहीं-कहीं सवेग हो गया है:—

चौंक वीर उठ खड़ा हो गया. पूछा उसने "कितनी रात!"
"अधःप्राय", "कुशल है तब तो, अब भी है वह दूर प्रभात!"

शब्दों में कितनी त्वरा है! अथवा

गया जटायु इधर सुरपुर को, उधर जटानन लङ्का को।

कवित्व के दर्शन भी यत्र-तत्र हो ही जाते हैं—

तारा को आगे करके तब नत वानरपति शरण गया!

युद्ध का वर्णन करते-करते तो हनुमान परिस्थिति का बन्धन भी तोड़ देते हैं (क्योंकि वे वीर थे)। उसमें महाकाव्य के अनुरूप ही एक अप्रतिहत वेग और उच्छ्वास आ गया है। वर्णन के शब्द एक दूसरे से कन्धे से कन्धा भिड़ा कर नहीं चल रहे। उनमें धक्का मुक्की मची हुई है वे इस समय 'डबल अप' कर रहे हैं। यह वेग बढ़ता ही जाता है, अन्त में राम की मूर्छा के साथ वर्णन भी एक साथ क्षीण होकर गिर पड़ता है और उसको वांच्छित विराम मिल जाता है। यह कवि के वर्णन का कौशल है जो भावों के साथ उठता गिरता है। अन्तिम सर्ग का रोला-प्रवाह इस मूर्छा के उपरान्त स्वाभाविक था। वहाँ कथा सिन्धुनन्द की भाँति दुर्धर-वेग से आगे बढ़ती है। उस प्रवाह में भरत, शत्रुघ्न, उर्मिला, साकेत वासी सभी वह रहे हैं।

रोचकता एवं उत्सुकता:—कथा वर्णन का सबसे बड़ा गुण है रोचकता जिसके लिये पाठक की उत्सुकता को वश में करना आवश्यक होता है। साकेत की कथा में इस प्रकार का विधान कुछ कठिन था क्योंकि उसकी घटनाएँ सभी पूर्व परिचित हैं। फिर भी कवि की मौलिक उद्भावनाओं द्वारा यह कार्य सिद्ध हुआ है। साथ ही कुछ स्थलों पर तो इतनी गहराई आ गई है

कि पाठक या श्रोता की स्मृति पर उनका चिरस्थिर प्रभाव आप से आप पड़ता है। चित्रकूट में कैकेयी की सफाई, उर्मिला लक्ष्मण का क्षणिक मिलन, राम-रावण-युद्ध आदि ऐसे ही स्थल हैं। उत्सुकता के लिए यह वांछनीय है कि कथा की भावी गति-विधि पहले ही स्पष्ट हो जाए। इसके लिए कथा में प्रायः ड्रैमेटिक टर्न का उपयोग होता है। साकेत में स्थान-स्थान पर परिस्थिति में सहसा परिवर्तन करके ऐसा विधान किया गया है। चित्रकूट पर भरत और राम का संवाद हो रहा था। भरत को अतिशय ग्लानि-पीड़ित देखकर राम कह उठे :—

उसके आशय की थाह मिलेगी किस को।
जन कर जननी भी जान न पाई जिसको॥

यह केवल भरत की प्रशस्ति मात्र थी और राम का तात्पर्य उस समय लोगों पर उनकी महाशयता प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था—परन्तु कैकेयी एक साथ इन शब्दों को पकड़ कर बोल उठती है और कथा दूसरी ओर प्रवृत्त हो जाती है। द्वादश सर्ग में साकेत की सेना रण के लिए प्रस्तुत खड़ी थी। चलने के लिए बस अन्तिम संकेत की प्रतीक्षा थी, इतने ही में वशिष्ठ का 'शांत शांत! गंभीर नाद सुन पड़ा अचानक।' और कथा का प्रवाह एक साथ बदल गया।

नाटकीय विडम्बना या पूर्व-संकेत (Dramatic irony):—कहानी में रोचकता का समावेश प्रायः विस्मय अथवा कौतूहल की सृष्टि द्वारा ही होता है। किसी न किसी रूप में कहानी लेखक इसी का सृजन करने का प्रयत्न करता रहता है। नाटककार के पास कौतूहल उत्पन्न करने के अनेक साधन हैं। वह कभी-कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है जिसके दो विरोधी अर्थ होते हैं—एक पात्रों के लिए, दूसरा दर्शकों या पाठकों के लिए।

कभी कभी पात्र अनजाने कुछ ऐसी कार्यवाही करते हैं या कुछ ऐसी बात कहते हैं जिनका अर्थ उसी वक्त या बाद में जाकर पाठकों के लिये पूर्व परिचित-सा प्रतीत होकर उनके कौतूहल को एक साथ बढ़ा देता है, पर पात्र स्वयं उससे अनभिज्ञ रहते हैं। पात्रों की इस अनभिज्ञता और दर्शकों अथवा पाठकों को अभिज्ञता के बीच जा विषमता रहती है वही इस कौतूहल को जननी होती है। यह विषमता दो प्रकार को होती है—१-परिस्थिति की २-शब्दों की। इस प्रकार के साधनों का प्रयोग नाटक-कार ही नहीं कोई भी कहानी लिखने वाला कर सकता है। प्रबन्ध काव्य में भी कुशल कलाकार इसका बड़ा सुन्दर प्रयोग कर सकते हैं और करते हैं। सफल कहानी कहने वालों की कृतियों में ऐसे क्षण अनायास ही आ जाते हैं। साकेत में नाटक के अनेक तत्व स्वतः ही आ गये हैं। कई स्थानों पर इस विषमता का भी बड़ा रोचक उपयोग किया गया है। पहले परिस्थिति की विषमता का एक उदाहरण लीजिये—पहले सर्ग में उर्मिला ने राम के अभिषेक का एक चित्र खींचा—वह लगभग समाप्त हो चुका था, बस लक्ष्मण का स्थान उसमें और अङ्कित करना था। लक्ष्मण और उर्मिला में इसी विषय को लेकर एक शर्त ठहरी—लक्ष्मण का कहना था कि उर्मिला उसका चित्र नहीं खींच सकती। इधर उर्मिला को अपनी कला पर विश्वास था। खैर, रचना प्रारम्भ हुई परन्तु बीच ही में प्रेमिका को रोमाञ्च हो आया—और

१—चिबुक-रचना में उमङ्ग नहीं रुकी,
रंग फैला लेखनी आगे झुकी।
एक पीत तरंग-रेखा-सी बही,
और वह अभिषेक-घट पर जा रही।

यहाँ रंग की पीत रेखा का बहकर अभिषेक घट पर जाना साधारण सी बात है। रंग बह गया और वह कहीं फैल सकता था। चित्र में लक्ष्मण अभिषेक घट के पास ही थे, अतः वह रेखा उसी पर जा पहुँची। उर्मिला और लक्ष्मण पर भी इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु पाठक को इसका अर्थ कुछ देर बाद हो दूसरे सर्ग में चल जाता है—वह प्रत्यक्ष ही अभिषेक के प्रसंग को नष्ट भ्रष्ट होता हुआ देख कर, एक विशेष रहस्य को पा लेता है। इसी प्रकार चित्रकूट पर राम और सीता विलास-क्रीड़ा में मस्त हैं। राम सीता से परिहास करते-करते स्वभावतः कह उठते हैं—

> हो जाना लता न आप लता संलग्ना।
> करतल तक तो तुम हुई नवल-दल-मग्ना।
> ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको।

राम का अन्तिम वाक्य पहिले वाक्य का ही अंश है—उसका कोई और अर्थ नहीं है। परन्तु पाठक आगे चल कर प्रत्यक्ष ही राम को सीता की खोज में भटकता हुआ देख कर दोनों घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और राम की उक्ति के भविष्य-संकेत के रहस्य को समझ कर विस्मय मुग्ध हो जाता है। इन उदाहरणों में पहिला परिस्थिति की और दूसरा शब्दों की विषमता की ओर निर्देश करता है।

घटनाओं की सहायकता और पूर्वापर सम्बन्ध:—नाटकीय विस्मय का उपयोग होते हुए भी साकेत की घटनाएं सभी सम्बद्ध हैं। * कवि का प्रयत्न कथानक के सभी भागों का कारण

* [illegible] की दृष्टि से देखने से [illegible] और [illegible] में कुछ [illegible] होता है—[illegible] नहीं है [illegible] बात है [illegible] और [illegible] का [illegible]

उपस्थित करने का रहा है—इसीलिए कहीं-कहीं उनमें अद्भुत पूर्वा-पर सम्बन्ध मिलता है। विदा लेते समय राम गुरु वशिष्ठ से केवल एक प्रार्थना करते हैं—

माँ मुझको फिर देख सकें जैसे सही,
पिता, पुत्र की प्रथम याचना है यही।

राम के इन शब्दों के महत्व का अनुभव हमको दशरथ-मरण के उपरान्त होता है जब कौशल्या सती होने का प्रस्ताव करती हैं और वशिष्ठ उनको समझा कर रोक देते हैं। राम की प्रार्थना और वशिष्ठ के (कौशल्यादि को दिये हुये) उपदेश में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार वशिष्ठ के—

करो आर्य सम वन्यचरों को सभ्य तुम।

आदि शब्दों में और राम के कृत्यों में भी परस्पर सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी बड़े सूक्ष्म उदाहरण हैं, जैसे साकेत में भरत की कैकेयी के प्रति भर्त्सना और चित्रकूट में कैकेयी का प्रायश्चित—इन दोनों में एक सूक्ष्म तारतम्य है रानी का पश्चात्ताप बहुत कुछ भरत की भर्त्सना से प्रेरित है—

१—"कठिन तेरा उचित न्याय-विचार।
मृत्यु ? उसमें तो सहज हो मुक्ति।
भोग तू निज भावना की भुक्ति।"—भरत
२—"स्वार्थ ही ध्रुव-धर्म हो सब ठौर,
क्यों न माँ ? भाई, न बाप, न और।

× × ×

नहीं। आकस्मिक घटनाओं का भी कारण होता है परन्तु वह उस समय व्यक्त नहीं होता। वास्तव में पाठक या श्रोता कोई अकारण बात बताने में समर्थ नहीं हो सकता वह कारण के लिए सदा व्याकुल रहता है।

"इष्ट तुमको दम-शासन-नीति
और मुझको लोक-सेवा-प्रीति।"

२—"सूर्य-कुल में यह कलंक कठोर,
निरख तो तू तनिक नभ की ओर।"—भरत

१—"श्रीखण्ड आज अङ्गार-चंड है मेरा,
तो इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा।"—कैकेयी

२—"बस मैंने इसका बाह्यमात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा मृदुल गात्र ही देखा
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा।"—कैकेयी

३—"युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।"—कैकेयी

भरत राम के संवाद में भी अभीप्सित शब्द का प्रयोग अन्त तक हुआ है। राम प्रारम्भ में उसको प्रयुक्त करते हैं, भरत उसको पकड़ कर अपनी ग्लानि उसी के द्वारा व्यक्त करते हैं—और अन्त में राम फिर उसी के साथ वाद-विवाद को समाप्त करते हैं—

था यही अभीप्सित तुझे अरे अनुरागी।

कवि के वस्तु-विधान में यह सूक्ष्म कौशल स्तुत्य है। हनुमान के वर्णन में यह सकारणता का गुण और भी स्पष्ट है। यहाँ कवि को वर्णन के लिये थोड़ा सा समय निकालना था अतः उसने पहिले ही भरत के पास जड़ी उपस्थित करदी है जिससे हनुमान को हिमालय तक नहीं जाना पड़ा और इस प्रकार वांछित अवकाश मिल गया है।

इस सकारणता का प्रयोग कवि ने अपने ही लिए नहीं किया—वह अपने पात्रों के कृत्यों का भी कारण उपस्थित करने को सदैव उत्सुक रहता है। कौशल्या, सुमित्रा आदि पति

की अनुगामिनी क्यों न हो सकी ? भरत क्यों नहीं बुलाए जा सके ? इन सभी की व्याख्या वह बार-बार करता है। बालि-वध का वर्णन एक पंक्ति में किया गया है परन्तु वहाँ भी कवि 'वर्बर पशु कह' के संकेत द्वारा घटना को सहेतु सिद्ध करता है। यह सकारणता एक ओर तो पात्रों के चरित्र पर प्रभाव डालती है, दूसरे पाठक के चित्त में जो कभी-कभी कारण न मिलने से उद्विग्नता अथवा विरक्ति होती है उसका उपचार करती है जिससे वह कथा के निकट आ जाता है। अस्तु !

दोष:—यह सब होते हुए भी साकेत के कथा-वर्णन में कई दोष हैं। सबसे पहिला दोष है कतिपय स्थानों पर सजीवता का अभाव-विशेष कर तृतीय, चतुर्थ और षष्ठ सर्ग में—वहाँ हमको बड़े निर्जीव वर्णन मिलेंगे जिनसे ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि वर्णन में भरती कर रहे हो।

१—साँप खिलाती थीं अलकें
मधुप पालती थीं पलकें,
और कपोलों की झलकें,
उठती थीं छवि की छलकें। (चतुर्थ सर्ग)

२—मेरे कर युग हैं टूट चुके,
कटि टूट चुकी, सुख छूट चुके।
आँखों की पुतली निकल पड़ी,
वह यहीं कहीं है विकल पड़ी। (षष्ठ सर्ग)

उपर्युक्त वर्णन ऐसे ही हैं। इस समय पाठक का ध्यान स्वतः ही कवि के प्रिय काव्य मेघनाद वध (जिसका साकेत के वस्तु विधान पर काफी प्रभाव है) की ओर जाता है और उसके दुर्दम प्रवाह का स्मरण होते ही कवि का यह दोष और स्पष्ट हो जाता है।

दूसरा बड़ा दोष है कथा-वर्णन में अनुपात की कमी। कथा की गति आवश्यकता से अधिक विषम है, उसमें प्रारम्भ में अत्यन्त मंथरता, मध्य में पूर्ण स्थिरता और अन्त में बड़ी लपक-झपक है मानो किसी को कहने सुनने का अवसर ही न हो। इसका एक कारण है—कवि में मानसिकता (Subjectivity) का प्राधान्य, जो प्रबन्ध और विशेषकर कहाकाव्य के कथा-प्रवाह के अनुकूल नहीं—क्योंकि उसका प्रधान तत्व तो विराट-दृश्य-शृङ्खला (Panoramic visions) है।

(आ) दृश्य विधान

भावना के उच्च धरातल पर जाकर सभी कलाएँ शुद्ध एक रूप हो जाती हैं—उस समय गान में चित्र और चित्र में गान का आभास स्वयं होने लगता है। कवि तो गायक, शिल्पी और चित्रकार सभी होते हैं। वह अपनी काव्य-सामग्री के द्वारा मूर्ति-निर्माण कर सकता है, चित्र अङ्कित कर सकता है, सङ्गीत की ध्वनियाँ लहरा सकता है। उसकी संवेदना इतनी तीव्र, पर्यवेक्षण इतना सूक्ष्म और साधन इतने सशक्त होते हैं कि वह सहज ही यह सब कुछ कर लेता है। अथवा यों कहिए उसका अनुभव इतना मूर्तिमन्त होता है कि बिना प्रयास के ही वह चित्रों द्वारा व्यक्त होने लगता है। साकेत में एक लम्बी कथा है जो समय और स्थान की दृष्टि से काफी विस्तृत है। कथा के लिए परिस्थिति के अनुसार शुद्ध प्राकृतिक और भौतिक सैटिंग की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य का वातावरण उस पर प्रतिक्रिया द्वारा प्रभाव डालता है। अतः कथा के पात्र जब भौतिक जीवन के संकुचित घेरे में कार्यरत दिखाई देते हैं, तो उनके कार्य-कलाप भावों एवं विचारों को समझने के लिए भौतिक वातावरण को हृदयङ्गम करने की जरूरत पड़ती है और

जब उनके भावों में विस्तार आ जाता है तथा उनकी क्रीड़ा-स्थली उन्मुक्त प्रकृति बन जाती है, उस समय प्राकृतिक रंग भूमि का अङ्कन करना पड़ता है। साकेत में साधारणतया दोनों प्रकार के दृश्यों का नियोजन है। प्रारम्भ में साकेत-नगरी और राज प्रासाद का वैभव-पूर्ण वर्णन है। उसमें कवि-परम्परा युक्त कुछ बातों का समावेश होने पर भी, दो एक स्थान पर वातावरण का बड़ा सुन्दर सृजन हुआ है। कवि राज प्रसाद का वर्णन करता हुआ कहता है—

ठौर-ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं,
जो सुसंवत के निदर्शन-रूप हैं।
राघवों की इन्द्र-मैत्री के बड़े,
वेदियों के साथ साक्षी-से खड़े।
मूर्तिमय, विवरण समेत, जुदे-जुदे,
ऐतिहासिक वृत्त जिनमें हैं खुदे,
यत्र तत्र विशाल कीर्ति-स्तम्भ हैं,
दूर करते दानवों का दम्भ है।

उक्त विवरण में कवि की संस्कृति-पूजा ने सचेत होकर गत-गौरव का भव्य चित्र उपस्थित किया है। यह ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि का सुन्दर उदाहरण है। सामाजिक पृष्ठ-भूमि के लिये शत्रुघ्न द्वारा वर्णित साकेत के समाज-जीवन की वस्तु स्थिति का अध्ययन कीजिये। सुखी देश के सम्पन्न समाज का यह आदर्श चित्र है।

प्राकृतिक दृश्य साकेत में बहुत हैं कुछ साधारण भूमिका स्वरूप हैं, कुछ समता अथवा वैषम्य के द्वारा पात्रों के भावों पर घात-प्रतिघात करते हैं। कुछ का समावेश महाकाव्य की परम्परा-वश भी हो सकता है। शुद्ध प्राकृतिक दृश्यों की परीक्षा

करते समय हम तुरन्त ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यह कवि का अपना क्षेत्र नहीं है । साकेत में प्रकृति के चित्र नहीं वर्णन है—उनमें भी शिथिलता है । कल्पना और भाव का सुन्दर योग होते हुए भी उसका सम्पूर्ण चित्र कवि के मन पर प्रायः अङ्कित नहीं होता अतः उसमें एकता (Unity) का अभाव है । कवि की भाषा भी कुछ अंशों में इसके लिए दोषी है । पहिले सर्ग का प्रभात-वर्णन मेरे कथन की पुष्टि करेगा । उसके सूक्ष्म अवयवों में पर्याप्त चारुता चाहता है, परन्तु चित्र संपूर्ण नहीं है ।

"सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ;
किन्तु समझो, रात का जाना हुआ ।
क्योंकि उसके अङ्ग पीले पड़ चले;
रम्य-रत्नाभरण ढीले पड़ चले ।
नींद के भी पैर हैं कँपने लगे,"

\+ \+ \+

स्वप्न के जो रङ्ग थे वे घुल उठे ।

\+ \+ \+

दीप-कुल की ज्योति निष्प्रभ हो निरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी ।

उपर्युक्त अवतरण में रात्रि के अङ्गों का क्रमशः पीला पड़ना उसके रम्यरत्नाभरणों (तारों) का ढीला पड़ना, नींद में पैरों का कंपना, दीप की ज्योति का एक घेरे में घिरी हुई रह जाना—सभी बातें कवि के सूक्ष्म अन्वीक्षण और चित्रमयी कल्पना की साक्षी हैं, परन्तु चित्र एकता नहीं है । उसकी गठन में बड़े भद्दे जोड़ हैं, जो 'आना हुआ' 'जाना हुआ', 'क्योंकि' आदि शब्दों से स्पष्ट हैं ।

लेकिन फिर भी साकेत में रम्य प्रकृति—चित्रों की कमी नहीं है—

'कहीं सहज तरु-तले कुसुम-शय्या बनी
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दल-पुञ्ज में।
जगा रही है उसे हिला कर कुञ्ज में।
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं।
कुछ करवट-सी पलट लेटती है वहीं।'

उक्त चित्र में यद्यपि

'किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं।'

में शिथिलता-सी आगई है, परन्तु अन्तिम पंक्ति ने उसके दोष को छिपा लिया है।

चित्रकूट-सभा के उठ जाने के बाद सभी के मानस सर्वथा निर्मुक्त हो गए। उनका आह्लाद जय जयकार के रूप में प्रकट होने लगा—सभी के हृदय में एक अपूर्व हर्ष-छटा छा गई। कवि पात्रों की इन भावनाओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए प्रकृति का एक अत्यन्त प्रसन्न चित्र उपस्थित करता है जिसमें समानता द्वारा भावों पर प्रतिघात होता है। यह चित्र स्वच्छ इपद प्रकाशमय है, मानो प्रकृति का भी मानव एक निर्मुक्त हो गया और उसमें भी हर्ष की एक लहर बह गई हो।

'मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी,
शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी।
द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक-पट पहने, दीख पड़ी गिरि-माला।'

एक स्थान पर कवि ने विराट शून्य का महान चित्र

उपस्थित किया है। उसमें रङ्ग नहीं किन्तु एक अवाक् स्वच्छ-विस्तार है।

> तम फूट पड़ा, नहां अटा,
> यह ब्रह्माण्ड, फटा, फटा, फटा!
> सखि देख दिगन्त है खुला,
> तम है, किन्तु प्रकाश से धुला!

साकेत की रङ्ग-शाला में कुछ मानव चित्र भी हैं। पहले सर्ग का निम्नाङ्कित चित्र बड़ा प्रसिद्ध है—

> चूमता था भूमितल को अर्ध विधु-सा भाल,
> बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल।
> छत्र-सा सिर पर उठा था प्राण-पति का हाथ,
> हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।

यह स्थिति-चित्र एकान्त पूर्ण है। आलोचक सत्येन्द्रजी ने इसकी समता नाटक के टेब्लों से उचित ही दी है। हिन्दी में भी एलफ्रैड आदि के रङ्गमञ्च पर ड्राप सीन प्रायः इसी प्रकार होता था।

मनुष्यों की मुद्राओं के सूक्ष्म चित्रण में भी कवि की तूलिका ने कौशल दिखाया है। हम सभी कुछ सोचते कहते या करते समय एक विशेष प्रकार की मुद्रा बना लेते हैं। साहित्य शास्त्र का अनुभव भी इसी का एक रूप है। बिना इन मुद्राओं के अङ्कन के भाव की अभिव्यक्ति कुछ क्षीण हो जाती है क्योंकि उसमें मूर्तता नहीं रहती, अतः प्रत्येक कवि के काव्य में स्वतः ही इनका समावेश हो जाता है। साकेत के स्थान-स्थान पर हमें उनका प्रयोग मिलेगा।

राम के वनवास की सूचना अभी लोगों को नहीं मिली थी,

परन्तु दशरथ की आर्त-अवस्था का समाचार समस्त रनवास में व्याप्त हो चुका था। सभी को एक विशेष चिन्ता और उत्सुकता थी कि आखिर बात क्या है? परन्तु राज-रहस्य था किसी की पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। राम पिता से विदा होकर माता के भवन में जा रहे हैं, नौकर उन्हें विस्मय-विमूढ़ होकर देखते हैं। उनकी उस समय की दशा का चित्रण कवि दो पंक्तियों में करता है। ये दो पंक्तियाँ उनकी मुद्रा को ही नहीं, उस समस्त वातावरण को अंकित करने में समर्थ है—

झुका कर सिर प्रथम, फिर टक लगा कर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर।

इस प्रकार के अवाक् मुद्रा-चित्र आजकल सिनेमा में प्रायः प्रदर्शित किये जाते हैं। ऐसे दो एक उदाहरण और द्रष्टव्य है—

(१) पकड़ कर राम की ठोड़ी, ठहर के,
तथा उनका वदन उस ओर करके,
कहा गत-धैर्य होकर भूपवर ने—
चली है देख तू क्या आज करने।

(२) सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
और एक अपांग ही उसने दिया।

उपर्युक्त चित्रों में रेखायें कुछ अधिक स्थूल हो गई हैं—साकेत में कवि ने भाव-भङ्गिमा के और भी बड़े सुन्दर अङ्कन किये हैं। पाश्चात्य आलोचक ब्रूस्टर ने चित्रण को व्याख्या करते हुये कहा है कि चित्रण केवल वस्तु का ही नहीं भाव एवं मनोदशा का भी हो सकता है और होता है। यहाँ हम कुछ ऐसे चित्र लेंगे जिनमें रेखायें धुँधली होने पर भी भाव का चित्र पूर्ण है। कवि ने इनमें सूक्ष्म प्रत्ययों का चित्रण नहीं किया, वरन्

व्यञ्जना की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ चित्र में रेखा नहीं ध्वनि है—

> उत्तर की अनपेक्षा करके आँसू रोक सुमन्त्र
> चले भूप की ओर वेग से, घूमा अन्तर्यन्त्र।
> 'अरे' मात्र कह कर ही उनको रहे देखते राम,
> और राम को रहे देखते लक्ष्मण लोक-ललाम।

अन्तिम सर्ग की कथा है। हनुमान लक्ष्मण-शक्ति का दुःसंवाद देकर उड़ गये—

> जल में पङ्ख पसार शफर सरक ले जैसे।

उनके शब्दों से परिस्थिति में एक विचित्र गहनता (Tensity) आ गई—माण्डवी और शत्रुघ्न के उद्दीप्त अहङ्कार ने उसको और भी घनीभूत कर दिया। उस समय भरत के हृदय में एक विचित्र तूफान घुमड़ रहा था, वातावरण में एक निस्तब्ध सनसनी-सी व्याप्त थी। माण्डवी के चले जाने से उसमें कुछ हलचल सी हुई—मानो भरत की समाधि टूट गई हो:—

> देकर निज गुञ्जार-गन्ध मृदु-मन्द पवन को
> चढ़ शिविका पर गई माण्डवी राज-भवन को।
> रहे सन्न से भरत, कहा—'शत्रुघ्न' उन्होंने
> उत्तर पाया 'आर्य' लगे दोनों ही रोने।

चित्र सवाक् हो उठा है।

ऊपर दिये हुये चित्र प्रायः सभी स्थिर हैं—स्थिर चित्र खींचने में कवि को स्थान के ही अनुपात का ध्यान रखना पड़ता है, परन्तु गतिमय चित्र के अङ्कन में स्थान और काल दोनों का महत्व है। अतः गति लाने के लिए कवि-कौशल की अपेक्षा अधिक होती है। समर्थ कवि के काव्य में ये सभी बातें अना-

यास ही उपस्थित हो जाती हैं, उसकी कलामयी दृष्टि में वस्तुओं का यथातथ्य स्वरूप अपने आप अङ्कित हो जाता है। वह भाव, मुद्रा, गति आदि को पृथक-पृथक लेकर एक स्थान पर समाविष्ट नहीं करता, वरन् सम्पूर्ण को ही ग्रहण करता है। दो एक उदाहरण लीजिये—शत्रुघ्न और भरत के ध्वनि संकेत को सुन कर साकेत के निद्रा-विलासी वीर एक साथ चकित होकर उठने लगे। उनके सम्भ्रम का एक चित्र देखिए:—

> प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
> त्रस्त-वधू-जन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे।
> प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया,
> बाहु बढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया!

इस वर्णन में चित्र और चित्र में गति आ गई है। विलास-रत वीरों के हाथों का सहसा प्रिया के कण्ठों से छूटना और आदत के अनुसार तुरन्त ही शस्त्रों पर जाना, उधर वधुओं का भयातुर होकर खिसकते हुए ढीले अस्त-व्यस्त वस्त्रों को पकड़ना—फिर प्रियतम को समीप देखकर आश्वस्त हो बाहु बढ़ा कर एक पैर नीचे रख कर दीपक का उकसाना अनेक क्रियाओं का अत्यन्त सजीव चित्रण है। गति का एक और छोटा-सा चित्र लीजिये—

> तनिक ठिठक, कुछ मुड़ कर बाएँ देख अजिर में उनकी ओर,
> शीश झुकाकर चली गई वह मन्दिर में निज हृदय-हिलोर।

इनमें भी कई गतियों का एक साथ अङ्कन है। इस प्रकार के चल-चित्र क्षण भर फुलझड़ी की भाँति चमक कर पीछे एक रेखा-सी छोड़ जाते हैं। कवि को स्वयं इसका ज्ञान है।

माण्डवी के शिविका में बैठ कर सहसा चले जाने पर, उसकी गुञ्जार-गन्ध पवन में उलझी हुई रह जाती है—

> देकर निज गुञ्जार गन्ध मृदु मन्द पवन को।
> चढ़ शिविका पर गई माण्डवी राज-भवन को॥

इन सभी चित्रों में अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण से काम लिया गया है। कहीं-कहीं केवल इम्प्रेशन-द्रष्टा के मन पर पड़े हुए प्रभाव के द्वारा ही बड़े सजीव चित्र खींचे गये। चित्रकूट में विधवा कौशल्या को पहले पहल देख कर राम के मन पर कैसा प्रभाव पड़ा, इसका चित्रण करने के लिये कवि अत्यन्त सूक्ष्म अवयवों को एकत्र करता है—

> जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
> हत जिसकी पंकज-पंक्ति अचल-सी काया।
> उस सरसी-सी, आभरण-रहित, सित-वसना,
> सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना।

राम के मन पर सित-वसना, हतश्री, निराभरण, विधुरा रानी के दर्शन का जो प्रभाव पड़ा, उसको ज्यों का त्यों पाठक के मन पर उतार देने के लिए कवि को वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना करनी पड़ी है। पाले का पर्त श्वेत आकर्षण शून्य साड़ी की कितनी सुन्दर व्यञ्जना करता है—और शिशिर की सरसी द्वारा श्रीहता कौशल्या (जिसके मानस की सभी तरंगें निश्चेष्ट हो गई थीं) के फोटो में तो रि-टचिङ्ग की भी आवश्यकता नहीं रह गई।

यह इम्प्रेशन-चित्र कहीं-कहीं एक दो पंक्ति में ही पूर्ण हो गया है। उर्मिला नव-यौवन के आगमन के समय की विचित्र मनोदशा का वर्णन करती है।

१—तिरछी यह दृष्टि हो उठी,
तकती-सी सब सृष्टि हो उठी।

यौवन के इस लक्ष्य (Cynosure) का चित्र कितना भाव-मय है। कवि की सूक्ष्म भावुकता ने चित्र के अन्तर में प्रवेश करके मानो उसका अङ्कन किया हो।

२—हिलमिल कर मिल गईं परस्पर लिपट जटायें—

यहाँ केवल एक रेखा है। जटाओं के मिलने का दृश्य सामने आते ही मन में अनेक धुँधले चित्र घूम जाते हैं। युवराज राम का मुकुट उतार कर जटा बंधन करना, वन में चौदहों वर्षों तक रूखी जटाओं का बढ़ते रहना, इधर भरत का भी नव वय में वैराग्य धारण करना और साधन होते हुए भी तपस्वी वेश ले लेना—फिर इतने दिनों बाद दोनों राजकुमारों का तापस्व-वेश में सम्मिलन यह सभी कुछ सामने आ जाता है।—कभी-कभी एक शब्द ही समस्त प्रभाव (Impression) को मुखर करता हुआ चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो जाता है।

"आ गए"—सहसा उठा यह नाद।
बढ़ गया अवरोध तक संवाद।

यहाँ एक—अकेला शब्द 'आ गए' समस्त भावना को मूर्त कर चित्र में जीवन डाल देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि का निरीक्षण बड़ा सूक्ष्म है। उसकी दृष्टि वस्तुओं के अन्तर में प्रविष्ट होकर उनके सौन्दर्य को बाहर खींच लाती है। यह प्रकृति चित्रों के विषय में इतना ठीक नहीं जितना मानव-चित्रों के विषय में। साकेत के वृहत चित्र कहीं कथा के लिए पृष्ठ-भूमि उपस्थित करते हैं, कहीं मानव-कार्यों की रङ्गस्थली का कार्य करते हैं, और कहीं

उत्सुकता की वृद्धि करते हुए कथा में नाटकीय रोचकता का समावेश करते हैं; और छोटे चित्र प्रायः भावों को मूर्तिमन्त करके क़था में उभार लाते हैं।

संवाद

प्रत्येक कथा का चाहे वह नाटक रूप में प्रदर्शित की गई हो, या उपन्यास में वर्णित, अथवा प्रबन्ध-काव्य के रूप में गाई गइ हो, संवाद एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण है। उसके द्वारा कथा की गति आगे बढ़ती है, चरित्र की गहन गुत्थियाँ सुलझती हैं और वर्णन में प्राण आते हैं। साकेत में संवाद द्वारा यह सभी कुछ हुआ है। वह कथा को प्रगतिशील बनाता है—जैसे उर्मिला लक्ष्मण संवाद, या दशरथ-कैकेयी संवाद। वही चरित्र की अंतर्वृत्तियों का विश्लेषण करता है—जैसे भरत-कैकेयी का वार्तालाप, मन्थरा-कैकेयी का विवाद अथवा राम और भरत का वार्तालाप और कहीं वर्णन में सरसता एवं सजीवता लाता है, जैसे राम और सीता का प्रणय-परिहास, अथवा सीता-लक्ष्मण का विनोद। अच्छे संवाद की पहिचान यह है कि वह उक्त तीनों उद्देश्यों की सिद्धि करे। साकेत के मन्थरा-कैकेयी संवाद, राम-कैकेयी संवाद ऐसे ही हैं। उनसे कथा आगे बढ़ती है। चरित्र की सूक्ष्म विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है तथा वर्णन में सजीवता और गहराई आती है।

संवाद के गुणों की विवेचना करते समय आचार्यों ने स्वाभाविकता अर्थात् परिस्थिति और पात्र की अनुरूपता, सजीवता अथवा उद्दीप्ति, गति-शीलता एवं रसात्मकता पर जोर दिया है। साकेत के संवादों में स्वाभाविकता प्रायः मिलती ही है। सब अपनी परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार ही बात-चीत करते

हैं—अतः उनके भावों में, शब्दों के घुमाव में, वाणी की ध्वनि में अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिए लक्ष्मण के वार्तालाप में उनके स्वभाव के अनुसार गर्मी होगी, उर्मिला की बातचीत शील-सम्मिलित होगी। फिर भी परिस्थिति के अनुसार उसमें वाणी का उतार चढ़ाव सर्वत्र मिलेगा। लक्ष्मण प्रकृति से उग्र हैं, वह उग्रता उनकी बातों में व्यक्त हुये बिना नहीं रहती। अयोध्या में कैकेयी से बात करते-करते वे एक साथ असंयत और उग्र हो उठते हैं। यही दशा उनकी चित्रकूट में भरत को ससैन्य आते देख कर होती है। और राम से बातें करते हुए वे फिर उसी उग्रता का परिचय देते हैं। परन्तु फिर भी दोनों में परिस्थिति के अनुसार कितना बड़ा अन्तर है। पहले वार्तालाप में जो उग्रता है वह असंयत है और एक राजकुमार के गौरव के प्रतिकूल भी है। दूसरे में परिस्थिति की विभिन्नता के कारण संयम आगया है—अतः शील की हानि नहीं हुई। इसलिए पहले अवसर पर उग्रता दोष और दूसरे पर गुण बन गई है।

सजीवता अथवा उद्दीप्ति तो साकेत के संवादों का प्राण है। कैकेयी का वार्तालाप सदैव उद्दीप्ति उच्छ्वसित होगा चाहे वह क्रोध के कारण हो, अथवा अभिमान से या ग्लानि और पश्चात्ताप-वश। कैकेयी साकेत का कदाचित सबसे अधिक प्राणवान चरित्र है, उसकी कल्पना हम बिना आवेग के नहीं कर सकते। अतः उसके संवादों में जो उच्छ्वास है वह अन्यत्र नहीं। और संवादों में भी परिस्थिति और पात्र-स्वभाव के अनुसार यथावांछित सजीवता मिलती है।

सजीवता की उपस्थिति ही प्रायः संवाद को गति-शील बनाने के लिये पर्याप्त होती है। साकेत की कथा जैसा मैं पहले कह आया हूँ अधिकतर संवादों और दृश्यों द्वारा ही आगे बढ़ती

है अतः उनमें गति-शीलता अनिवार्य है। परन्तु कहीं-कहीं उनमें स्थिरता भी है—उदाहरण के लिये पञ्चम सर्ग में राम, सीता और लक्ष्मण की विनोद वार्ता की ओर संकेत किया जा सकता है। परन्तु वह परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। उस समय जैसा प्रायः यात्रा के समय होता है, विनोद और परिहास की गति मन्थर है। कारण यह है कि वहाँ कथा में रिक्तता है और कार्य काफी दूर है। अतः उसका वास्तविक प्रयोजन तो मार्ग श्रम को दूर करना ही है। गुह के शब्द—

'परिहास बना वनवास यह'

उक्त अर्थ की सिद्धि की ओर ही संकेत करते हैं।

संवाद के लिए इतना ही बस नहीं है कि वह आवश्यकता की पूर्ति करता चले उसमें रस होना भी अनिवार्य है, अन्यथा कवित्व क्षीण हो जायगा। साकेत के संवाद उपन्यासकार की सृष्टि नहीं हैं वे कवि की कृति हैं, अतः स्वभावतः उनमें कवित्व। उर्मिला-लक्ष्मण संवाद में, राम-सीता संवाद में, भरत-कौशल्या संवाद में भावुकता का मधुर प्रसाद मिलेगा। उर्मिला और लक्ष्मण का परिहास प्रेम की विभूति है। उसमें कहीं व्यङ्ग है, कहीं मीठी चुटकी, कहीं हल्का—सा मान।

लक्ष्मण—'तदपि तुम—यह कीर क्या कहने चला?
कह अरे क्या चाहिए तुमको भला?

(तोता)—"जनकपुर की राज-कुञ्ज-विहारिका,
एक सुकुमारी सलोनी सारिका!"
देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे,
उर्मिला के नेत्र खंजन-से फँसे।

उर्मिला—"तोड़ना होगा धनुष उसके लिए।"
लक्ष्मण—"तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये।"
उर्मिला—"सुतनु, टूटे का भला क्या तोड़ना ?
कीर का है काम दाड़िम फोड़ना।"

(लक्ष्मण कुछ दूर बढ़ जाते हैं, अतः आगे की पंक्ति में बात को साधने का प्रयत्न है)

लक्ष्मण—"होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे,
जन्म मिथिला या अयोध्या में धरे।"
उर्मिला—"और भी तुमने किया है कुछ कभी,
याकि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी।"
लक्ष्मण—"बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही"

उपर्युक्त संवाद में रसात्मकता का पूर्ण समावेश है। साथ ही उसके नाटकीय गुण भी स्तुत्य हैं। कवि बीच-बीच में अपनी ओर से पात्रों की मुद्राओं और भावों का वर्णन करके मानो रंग संकेत दे रहा हो। एकाध स्थान पर कवि को कल्पना और श्लेष का आश्रय भी लेना पड़ा है जिसमें परिहास अत्यन्त सूक्ष्म हो गया है—

उर्मिला बोली—"अजी, तुम जग गए,
स्वप्ननिधि से नयन कब से लग गए।"

लक्ष्मण—"मोहनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।"

इस अवतरण में स्वप्न-निधि और जागरण में लिंग को दृष्टि में रखकर परिहास किया गया है। अतः वह बड़ा सूक्ष्म हो गया है।

यहाँ तक जिन विशेषताओं का निर्देश किया गया है वे किसी न किसी रूप में थोड़ी बहुत अनेक लेखकों में मिल सकती हैं। परन्तु साकेतकार को तो संवाद में खास कमाल हासिल है। इसलिए उसमें और भी अनेक सूक्ष्म विशेषताएँ मिलती हैं जिनका आधार मानव मनस्तत्व का गंभीर परिज्ञान है।

वार्तालाप एक सामाजिक गुण है। मुसलमानों के साधारण जीवन का तहजीबे-गुफ्तगू (Art of Conversation) एक मुख्य अंग है। उनकी बात-चीत की तमीज अनुकरणीय है। योरोप में भी एक नवयुवक का सबसे बड़ा आकर्षण बात-चीत करने की कुशलता ही है। वहाँ फैशन की संचालिका नवयुवती है उसके लिये सबसे प्रधान वशीकरण (जैसा कि गत वर्ष एक अमेरिकन समाचार-पत्र में स-प्रमाण प्रकाशित हुआ था) है आर्ट ऑफ कनवरसेशन! उसके आवश्यक उपकरण क्या हैं यह कहना बड़ा कठिन है फिर भी क्या हम साधारणतया नहीं कह सकते कि बातचीत के लिये रोचकता सबसे प्रथम और अन्तिम गुण है। अब यह प्रश्न है कि रोचकता का समावेश कैसे हो? रोचकता भी बड़ा सूक्ष्म गुण है और निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि कब किस वार्तालाप में रोचकता आ जाती है, किन्तु प्रायः तीन तत्व उसमें मिलते हैं—प्रत्युत्पन्नमति (हाजिर जवाबी), सौजन्य (Etiquette) और संगति। साकेत के संवादों में ये विशेषताएँ सर्वत्र मिलती हैं। उसके प्रायः सभी पात्र प्रत्युत्पन्नमति हैं—कहीं-कहीं एक शब्द में ही वे ऐसा उत्तर देते हैं कि श्रोता मूक हो जाता है।

राम और रावण के उत्तर प्रत्युत्तर सुनिये—

:—पञ्चानन के गुहाद्वार पर रवा किसकी?
मैं तो हूँ विख्यात दशानन, सुध कर उसकी!

राम—हँस बोले प्रभु "तभी द्विगुण पशुता है तुझ में ?
तू ने ही आखेट रङ्ग उपजाया मुझ में ?

इसी प्रकार जब लक्ष्मण मेघनाद की यज्ञशाला में पहुँचते हैं तो वह एक साथ उनको देख कर हत-प्रभ हो जाता है और कहता है—

.... कैसे तू आया ?
घर का भेदी कौन यहाँ जो तुझ को लाया ?

लक्ष्मण की स्थिति इस समय कुछ विषम थी। वे अनुचित समय पर आये थे, दूसरे यह भी सत्य ही था कि उनको विभीषण द्वारा यह भेद मिला था, और उधर मेघनाथ ने भी यह बात ताड़ ली थी, अतः उसे ऐसे अवसर पर वे क्या उत्तर देते। किन्तु देखिए लक्ष्मण उसकी बात को बड़ी सफाई से उड़ा जाते हैं—और अपनी स्थिति की रक्षा करते हुए ऐसा जवाब देते हैं कि फिर उसे कुछ कहते ही नहीं बनता। बस शीघ्र ही बातचीत का रुख दूसरी ओर बदल जाता है:—

अरे, काल के लिए कौन पथ खुला नहीं है ?

❀ ❀ ❀

मैं हूँ तेरा अतिथि, युद्ध का भूखा, ला तू
करले कुछ तो धर्म, 'अतिथि देवो भव' आ तू।

उपर्युक्त उत्तर में तीक्ष्णता तो है ही, साथ ही वह प्रसंग में भी पूरे तौर पर फिट हो गया है।

ये उदाहरण क्रोध और व्यंग के रहे ! साकेत में और कई स्थल ऐसे हैं जहाँ कोमल प्रसंगों में भी इसी प्रकार की प्रत्युत्पन्न-मति का चमत्कार है। राम की विपत्तियों का समाचार सुन कर भरत की ग्लानि फिर से उभर आती है और वे शत्रुघ्न से

सहसा पूछ उठते हैं 'लग भरत का नाम आज कैसे लेते हैं?' उनकी धारणा थी कि जनता उन्हें इन सभी झंझटों का मूल कारण समझती होगी—और स्वभावतः सबके हृदयों में उनके प्रति घृणा की भावना व्याप्त होगी। भरत के निर्मल अन्तःकरण में ऐसी शङ्का का उठना सर्वथा स्वाभाविक था। इसका समाधान करने के लिए समय की आवश्यकता थी—और कहना-सुनना भी काफी पड़ता। परन्तु शत्रुघ्न अपने एक ही शब्द में उसको शांत कर देते हैं।

आर्य, नाम के पूर्व 'साधु' पद वे देते हैं।

इस उत्तर में भरत की ग्लानि को समझना और उसका इस प्रकार समाधान करना कि भरत फिर कुछ न कह सकें, असाधारण कौशल का द्योतक है!

प्रत्युत्पन्नमति का यह चमत्कार प्रायः शब्द-चमत्कार के आश्रित रहता है। अच्छी बातचीत करने वाला प्रतिपक्षी के किसी शब्द अथवा वाक्य विशेष को पकड़ लेता है और उसको दूसरा टर्न देता हुआ उसके द्वारा प्रयोक्ता को निरुत्तर करने का प्रयत्न करता है। भरत राम के वार्तालाप में 'अभीप्सित' शब्द की यही स्थिति है। राम-कैकेयी के वाद-विवाद में 'जन कर जननी भी जान न पाई जिसको।'—इस वाक्य का भी उपयोग इसी प्रकार किया गया है। यह संवाद का एक विशेष गुण है, परन्तु इसके लिए भाषा पर बृहत् अधिकार अपेक्षित है।

इसी प्रकार के उत्तरों में एक विशेष चमत्कार मिलता है, उनसे श्रोता चकित और मूक हो जाता है। परन्तु वे हमें आश्वस्त करने में सदैव सफल नहीं होते। आश्वासन के लिये युक्ति और संगति की आवश्यकता होती है जिनके बिना दूसरा के निरुत्तर होने पर भी संतुष्ट नहीं होता। अच्छे वार्तालाप

में सङ्गति होना अनिवार्य है। साकेत के संवादों में यह विशेषता तो प्रायः सर्वत्र ही मिलेगी। चित्रकूट का प्रसङ्ग है। भरत को ससैन्य आते देख लक्ष्मण भड़क उठते हैं। राम उनको समझाने का प्रयत्न करते हैं। इस समय दोनों में काफी गर्म बातचीत होती है, जिसमें युक्ति का चमत्कार दर्शनीय है—

राम—भद्रे, न भरत भी उसे* छोड़ आए हों,
मातु-श्री से भी मुँह न मोड़ आए हों,
लक्ष्मण, लगता है यही मुझे हे भाई,
पीछे न प्रजा हो पुरी शून्य कर आई।

लक्ष्मण—आशा अन्तःपुर-मध्यवासिनी कुलटा,
सीधे हैं आप, परन्तु जगत है उलटा।
जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं,
तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं?

राम—भाई कहने को तर्क अकाट्य तुम्हारा,
पर मेरा ही विश्वास सत्य है सारा।
माता का चाहा किया राम ने आहा,
तो भरत करेंगे क्यों न पिता का चाहा?

विज्ञ पाठक दोनों भाइयों के उपर्युक्त रेखाङ्कित तर्कों को पढ़ कर उनका सन्तोलन करें—कितना सबल तर्क है—उन्हीं शब्दों में उसी उक्ति को लौट कर राम ने लक्ष्मण को परास्त कर दिया। युक्तियों के दाँव-पेच राम-जाबालि संवाद में काफी हुए हैं। परन्तु वहाँ युक्ति का चमत्कार होने पर भी भावुकता साथ नहीं देती। उसमें कहीं-कहीं शब्द-सङ्गठन कुछ हास्यास्पद सा हो गया है—

* राज्य को।

पूर्व और पश्चिम में सभी जगह अलङ्कारियों ने इन प्रणालियों की संख्या परिमित-सी कर दी है परन्तु वास्तव में कब कोई व्यक्ति अपने कथन में किस प्रकार चमत्कार का समावेश कर सकता है, यह कहना कठिन है। इसलिए इनको संख्या-बद्ध करना साधारणतः सम्भव नहीं। आजकल हमारे साहित्य में अभिव्यञ्जना-वाद प्रभाव के कारण पुरानी रीति-नीति में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब किसी कवि के अप्रस्तुत विधान की विवेचना करते समय 'कौनसा अलङ्कार?' अथवा कितने 'अलङ्कार प्रयुक्त हुए हैं?' यह खोज करना विशेष अर्थ नहीं रखता और वास्तव में इस नाम परिगणन से काव्य के कलात्मक स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश भी नहीं पड़ता। उसके लिए तो हमें यह जानना चाहिये कि कवि ने अपने कथन को सप्रभाव बनाने के लिये किस प्रणाली का आश्रय लिया है और उसका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है? एक ओर संस्कृत का अलङ्कार-शास्त्र है जो अलङ्कार को वस्तु से पूर्णतया स्वतन्त्र मानता है और दूसरी ओर है क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद, जो अलङ्कार और अलङ्कार्य की एकान्त अभिन्नता का प्रतिपादन करता है। हमारा मार्ग दोनों का मध्यवर्ती समझना चाहिए।

साकेत में गुप्तजी के कवि-जीवन का पूर्ण-वैभव मिलता है। अतः उसका कलेवर अलंकृत है—उसका काव्य श्री मण्डित। उसमें शकुन्तला का वन्य-सौन्दर्य नहीं, उर्वशी का नागरिक विलास है। यहाँ उनकी प्रतिभा ने कविता को नई-नई शृङ्गार-सामग्री से चित्र-विचित्र सजाया है। इसीलिए अतिशय भाव-पूर्ण स्थलों को छोड़ अन्यत्र वह शायद ही निरावरण मिले।

समान अप्रस्तुत योजना का आधार—

१—साधर्म्य और प्रभाव-साम्य-उक्ति में वैचित्र्य लाने के लिए सबसे सरल किन्तु सबसे व्यापक पद्धति है प्रस्तुत के लिए

अप्रस्तुत का विधान विशेषकर समान अप्रस्तुत-सा। यह समानता सादृश्य और साधर्म्य के भेद से पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य के अनेक अलङ्कारों की मूल-प्रेरणा है। वस्तु का सजीव वर्णन करने के लिये सादृश्य और भाव को तीव्र करने के लिये साधर्म्य का प्रयोग होता आया है। परन्तु आजकल रूप चित्रण की वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रचार बढ़ जाने से, और दूसरे सदृश उपमानों के पुराने पड़ जाने के कारण सादृश्य का महत्व बहुत कुछ घट गया है। उधर साथ ही भावतंत्र विस्तृत और भाषा की शक्ति विकसित होगई है इसलिए साधर्म्य से भी अधिक प्रभाव-साम्य का गौरव बढ़ गया है। साकेत में इस प्रकार का अप्रस्तुत-विधान अनेक स्थानों पर हुआ है—उसकी रमणीयता अद्भुत है। कुछ उदाहरण लीजिये—

(१) रथ मानो एक रिक्त घन था,
जल भी न था न वह गर्जन था।

यहाँ सूने रथ की रिक्त घन से समानता दिखाई गई है। रथ की और घन का कोई सादृश्य नहीं परन्तु रिक्त घन में जो अभाव और सूनापन होता है वह रथ की शून्यता (रामहीनता) को व्यक्त करने में बड़ा सहायक हुआ है। रीते बादल जिस प्रकार अपना सब कुछ लुटा कर मंथरगति से शान्त लौटते हैं इसी प्रकार वह रथ राम को छोड़ कर आ रहा था। घोड़ों में कोई उत्साह नहीं था। सारथी व्यथा-विमूढ़ था। अतः उसकी गति में किसी प्रकार का जीवन नहीं रह गया था। वह उस सूने पथ पर अनन्त मार्ग में मंथर गति से खिसकते हुए बादलों के समान चल रहा था। यहाँ साधर्म्य ही है, प्रभाव-साम्य भी रिक्तता के भाव में मिल जाता है।

(२) बढ़ीं तापिच्छ-शाखा-सी भुजाएँ,
अनुज की ओर दाएँ और बाएँ,

जगत संसार मानो क्रोड़गत था,
क्षमा-छाया तले नत था, निरत था।

उक्त उद्धरण में प्रस्तुत राम के क्रोड़ के लिये अप्रस्तुत अमूर्त है। दोनों में साधर्म्य तो है ही परन्तु विशेषता प्रभाव-साम्य की है। राम के क्रोड़ में क्षमा की शांति और एक प्रकार की सघनता थी। क्षमा शब्द से सघनता का भान आप से आप हो जाता है। उधर राम के क्रोड़ में भी यही बात है। छाया शब्द में राम की श्यामता का प्रतिबिम्ब है।

(३) विमाता बन गई आँधी भयावह,
हुआ चञ्चल न तो भी श्यामघन वह।
पिता को देख तापित भूमि-तल-सा,
बरसने यों लगा वर-वाक्य जल-सा।

यहाँ भी साधर्म्य के बल पर ही इस प्रचुर अलङ्कार-सामग्री का प्रयोग हुआ है। विमाता आँधी, राम श्याम-घन, पिता तप्त-भूमि-तल, राम के वाक्य जल। उधर प्रभाव दृष्टि से भी कैकेयी के क्रोध के उपरान्त राम के विनम्र वचन दशरथ के लिए ठीक वैसे ही हैं जैसा तूफान के बाद मेघवृष्टि का होना भूमि के लिये। रूपक साङ्गोपांग है—इसमें पूर्ण स्वाभाविकता है। ऐसा ही एक और रम्य उदाहरण लीजिये—

अरुण-पूर्व उतार तारक-हार,
मलिन-सा सित-शून्य अम्बर धार,
प्रकृति-रञ्जन हीन, दीन, अजस्र,
प्रकृति विधवा थी भरे हिम-अस्त्र।

...ान अप्रस्तुत योजना के आधार—

२—*सम्बन्ध*—कहीं-कहीं साधर्म्य का भी लोप हो गया है ...र प्रभाव-साम्य का आधार भी क्षीण हुआ जान पड़ता है।

निद्रा भी उर्मिला सदृश घर ही रही

यहाँ निद्रा और उर्मिला में कोई साधर्म्य नहीं है, यदि कल्पना की सहायता ली जाये तो दोनों में प्रभाव-साम्य अवश्य मिल जायगा। निद्रा का और उर्मिला का प्रभाव लक्ष्मण के लिए सुखकर था, यह समानता खोज निकालनी पड़ेगी। परन्तु यहाँ उपमा की भावमयता बढ़ी है वास्तव में निद्रा और उर्मिला का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण। इस उक्ति में निद्रा उर्मिला के घर रहने से वैसे ही छूट गई अथवा लक्ष्मण का निद्रा-सुख तो उर्मिला के साथ ही रह गया—यह भाव व्यंग्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उपमा सर्वथा अछूत है—और उपमान का प्रस्तुत से निकट सम्बन्ध होने के कारण भाव में अत्यधिक तीव्रता आ गई है। यही बात

प्रणति मिस निज मुकुट सर्वस्व देकर

में है। मुकुट का और प्रणति (माथा टेकने) का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, इसीलिए अप्रस्तुत प्रस्तुत से अविभक्त है।

समान अप्रस्तुत योजना के आधार—

३—सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य के उदाहरण अधिक होने पर भी, सादृश्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। साकेत में कहीं-कहीं बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप को बड़े सूक्ष्म कौशल से ग्रहण किया गया है।

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल-सी काया।
उस सरसी-सी, आभरण-रहित, सितवसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना।

इस चित्र में कवि ने कौशल्या के विधवा-वेश को अङ्कित करने में सादृश्य का बड़ा ही सूक्ष्म-विधान किया है। उसमें

जगत संसार मानो क्रोड़गत था,
क्षमा-छाया तले नत था, निरत था।

उक्त उद्धरण में प्रस्तुत राम के क्रोड़ के लिये अप्रस्तुत अमूर्त है। दोनों में साधर्म्य तो है ही परन्तु विशेषता प्रभाव-साम्य की है। राम के क्रोड़ में क्षमा की शांति और एक प्रकार की सघनता थी। क्षमा शब्द से सघनता का भान आप से आप हो जाता है। उधर राम के क्रोड़ में भी यही बात है। छाया शब्द में राम की श्यामता का प्रतिबिम्ब है।

(३) विमाता बन गई आँधी भयावह,
हुआ चञ्चल न तो भी श्यामघन वह।
पिता को देख तापित भूमि-तल-सा,
बरसने यों लगा वर-वाक्य जल-सा।

यहाँ भी साधर्म्य के बल पर ही इस प्रचुर अलङ्कार-सामग्री का प्रयोग हुआ है। विमाता आँधी, राम श्याम-घन, पिता तप्त-भूमि-तल, राम के वाक्य जल। उधर प्रभाव दृष्टि से भी कैकेयी के क्रोध के उपरान्त राम के विनम्र वचन दशरथ के लिए ठीक वैसे ही हैं जैसा तूफान के बाद मेघवृष्टि का होना भूमि के लिये। रूपक साङ्गोपांग है—उसमें पूर्ण स्वाभाविकता है। ऐसा ही एक और रम्य उदाहरण लीजिये—

अरुण-पूर्व उतार तारक-हार,
मलिन-सा सित-शून्य अम्बर धार,
प्रकृति-रञ्जन हीन, दीन, अजस्र,
प्रकृति विधवा थी भरे हिम-अस्त्र।

समान अप्रस्तुत योजना के आधार—

२—सम्बन्ध—कहीं-कहीं साधर्म्य का भी लोप हो गया है और प्रभाव-साम्य का आधार भी क्षीण हुआ जान पड़ता है।

बुरे स्वप्न में वीर आ गया उद्बोधन सा

स्वप्न उस शोक-संताप का उपमान है और उद्बोधन हनुमान का। दोनों में पृथक रूप से काफी समानता है। राम का शोक-संताप आस्तिक कवि के निकट मिथ्या था, उधर रात का समय भी स्वप्न से सम्बन्ध रखता है; और चिर-सजग हनुमान को तो उद्बोधन कहना मानो उनका सूक्ष्म भावमय रूप ही उपस्थित कर देना है। परन्तु इस पृथक साम्य से अर्थ की पूर्ति नहीं होती—उसके लिए तो सम्पूर्ण घटना को ही लेना पड़ेगा। तभी वातावरण का सजीव चित्र सम्मुख आ सकेगा। वहाँ प्रभाव साम्य ही है। ठीक ऐसे ही कुछ अमूर्त भावनाएँ हमारे निकट इतनी स्पष्ट होती हैं कि हम उनको मूर्त रूप में ही देखते हैं। संस्कृत के अलंकार-शास्त्र में रसों का वर्ण विभाजन इसी के आधार पर हुआ है। ऐसा करने के लिए कवि को मनोविज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म परिचय होना चाहिए। साकेत में इस प्रकार का भी विधान मिलता है—

१—फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज में पैठा था,
मानो लौह-तन्तु मोती को वेध उसी में वैठा था।

२—या कि विधु में ज्यों मही की म्लानि,
दूर भी बिम्बित हुई गृह-ग्लानि।

इस जगह पहिले उदाहरण में कवि ने विषाद को लौह-तन्तु के रूप में अनुभव किया है और माण्डवी के तेज दीप्त मुख मण्डल को मोती के रूप में। लौह-तन्तु से जिस प्रकार मोती की स्वाभाविक शोभा में व्याघात पड़ता है उसी प्रकार विषाद के कारण माण्डवी का तपस्तेज स्वाभाविक रूप में प्रकाशित नहीं हो रहा था। दूसरे उदाहरण में भी ग्लानि का रंग इसी आधार पर म्लान माना गया है।

सादृश्य के कई तत्व हैं, इसीलिए रूप का विम्ब बड़ा पूर्ण उतरा है। एक चित्र और देखिए—

> निरख शत्रु की स्वर्ण पुरी वह मुझे दिशा-सी भूली थी।
> नील जलधि में लङ्का थी या नभ में सन्ध्या फूली थी॥

ऐसा सादृश्य-विधान रूप-चित्रण बड़ा ही सुन्दर उपादान है।

समान अप्रस्तुत योजना के आधार—

४—मूर्त्त-अमूर्त्त—साधारण कवियों का अनुभव क्षेत्र संकीर्ण होने के कारण वे प्रायः मूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुत का ही प्रयोग करते हैं। उनकी अनुभूति स्थूल तक ही सीमित रहती है। रीतिकाल के अधिकतर कवि ऐसा ही करते रहे। परन्तु प्रतिभाशाली कलाकार मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत और अमूर्त के लिए मूर्त प्रस्तुत का प्रयोग करके काव्य का चमत्कार बढ़ा देते हैं। कभी-कभी हम देखते हैं कि कुछ सूक्ष्म-भाव हमारे निकट स्थूल-वस्तुओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं। उनकी अनुभूति हमें इतनी तीव्र होती है कि बहुत से मूर्त तथ्यों को समझने के लिए भी उनका आश्रय लेना पड़ता है। मूर्त उपमेय के लिए अमूर्त उपमान का प्रयोग इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जाता है—इससे भाव की तीव्रता बढ़ जाती है। साकेत में कवि लंका का वैभव वर्णन करने के उपरान्त वैदेही की स्थिति की ओर संकेत करना चाहता है—इसके लिए वह अमूर्त अप्रस्तुत का प्रयोग करता है।

> उस सब वैभव की विरक्ति-सी वैदेही व्याकुल मन में।

इसी प्रकार लक्ष्मण-शक्ति के कारण शोक-संतप्त समाज में जड़ी लेकर एक मात्र हनुमान का आ जाना, कवि को ऐसा प्रतीत हुआ मानो—

का उपयोग किया जाता है और उपमेय अथवा प्रस्तुत सर्वथा प्रच्छन्न रहता है।

(१) उधर अट्ट पर दीख पड़ा गृह-दीपक मानो।

(२) किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीथ में नीलम मतवाला। प्याले में तारक-बुद्बुद देकर उफन रही वह हाला।

यहाँ पहिले उदाहरण में गृह-दीपक प्रतीक होकर सुपुत्र की व्यञ्जना करता है। दूसरे उद्धरण की दूसरी पंक्ति में प्रस्तुत आकाश के लिये अप्रस्तुत नीलम के प्याले का, और रात्रि की मादक शोभा के लिये हाला का प्रयोग हुआ है। रात्रि की सौन्दर्य श्री वियोगिनी को पागल बना रही है। यही भाव यहाँ व्यंग्य है। ऐसा विधान करने के लिए प्रायः प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है अन्यथा अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई पड़े। उपरोक्त प्रसङ्ग में हाला तो प्रसिद्ध प्रतीक है ही नीलम का प्याला भी आकाश में इतना निकट है कि उसको भी प्रतीक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रस्तुत वर्णन के पीछे अप्रस्तुत चेतन-चित्र—आजकल काव्य में प्रकृति-चित्रों की विशेषता होने के कारण हमें प्रायः एक बड़ा विचित्र अप्रस्तुत विधान मिलता है। यहाँ प्रस्तुत होती है प्रकृति और अप्रस्तुत रूप में उसके पीछे नारी अथवा कोई अन्य चेतन चित्र झाँकता रहता है। प्रकृति में मानव-व्यापारों की योजना द्वारा यह विधान किया जाता है। हमारे विधान में समासोक्ति द्वारा इनकी सिद्धि होती है, पश्चिम में प्रायः मानवीकरण की सहायता से। साकेत में ऐसे चित्र स्थान-स्थान पर मिलते हैं:—

तारक-चिह्न दुकूलिनी पी पीकर मधुमात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।

अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का आच्छादन:—यहाँ तक तो जिस अप्रस्तुत-योजना का विवेचन किया, उसमें प्रस्तुत की ही प्रधानता थी। परन्तु हमारे साहित्य में आजकल पश्चिम के प्रभाव के कारण प्रस्तुत की महत्ता कुछ घट रही है—अप्रस्तुत ने प्रस्तुत को एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है। संस्कृत साहित्य के रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों में ऐसा होता है, परन्तु वहाँ प्रायः प्रस्तुत पर ध्यान जमा रहने से अप्रस्तुत का सुन्दर विधान नहीं हो पाता। इसी कारण उपरोक्त अलङ्कार साधारण दर्जे के अलंकार माने गये हैं और उनके बहुत थोड़े उदाहरण ही सत्काव्य की कोटि में आ सकेंगे। परन्तु आजकल कवि प्रस्तुत की इतनी अधिक चिन्ता नहीं करते। वह तो व्यंग्य रहता है :

सखि, नील-नभस्सर में उतरा,
यह हंस अहा! तरता-तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता-धरता।
गड़ जाँय न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता-डरता।

यह प्रातःकाल की अप्रस्तुत-योजना है। सूर्योदय के कारण तारागण के विलीन होने और धीरे धीरे रश्मियों के पृथ्वी तल पर पहुँचने का अच्छा वर्णन है। उत्कृष्ट अप्रस्तुत योजना में प्रस्तुत गूढ़ व्यक्त नहीं रक्खा जाता। उपर्युक्त योजना में प्रस्तुत का स्वरूप बड़ी सुन्दरता से झाँक रहा है।

प्रस्तुत के स्थान पर प्रतीक का प्रयोग:—इस शैली से मिलती जुलती एक और शैली है जिसमें उपमान का नहीं वरन प्रतीकों

का उपयोग किया जाता है और उपमेय अथवा प्रस्तुत सर्वथा प्रच्छन्न रहता है।

(१) उधर अट्ट पर दीख पड़ा गृह-दीपक मानो।

(२) किसने मेरी स्मृति को वना दिया है निशीथ में नीलम मतवाला। प्याले में तारक-बुद्बुद देकर उफन रही वह हाला।

यहाँ पहिले उदाहरण में गृह-दीपक प्रतीक होकर सुपुत्र की व्यञ्जना करता है। दूसरे उद्धरण की दूसरी पंक्ति में प्रस्तुत आकाश के लिये अप्रस्तुत नीलम के प्याले का, और रात्रि की मादक शोभा के लिये हाला का प्रयोग हुआ है। रात्रि की सौन्दर्य श्री वियोगिनी को पागल वना रही है। यही भाव यहाँ व्यंग्य है। ऐसा विधान करने के लिए प्रायः प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है अन्यथा अर्थ समझने में वड़ी कठिनाई पड़े। उपरोक्त प्रसङ्ग में हाला तो प्रसिद्ध प्रतीक है ही नीलम का प्याला भी आकाश में इतना निकट है कि उसको भो प्रतीक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रस्तुत वर्णन के पीछे अप्रस्तुत चेतन-चित्र—आजकल काव्य में प्रकृति-चित्रों की विशेपता होने के कारण हमें प्रायः एक वड़ा विचित्र अप्रस्तुत विधान मिलता है। यहाँ प्रस्तुत होती है प्रकृति और अप्रस्तुत रूप में उसके पीछे नारी अथवा कोई अन्य चेतन चित्र झाँकता रहता है। प्रकृति में मानव-व्यापारों की योजना द्वारा यह विधान किया जाता है। हमारे विधान में समासोक्ति द्वारा इनकी सिद्धि होती है, पश्चिम में प्रायः मानवीकरण की सहायता से। साकेत में ऐसे चित्र स्थान-स्थान पर मिलते हैं:—

तारक-चिह्न दुकूलिनी पी पीकर मधुमात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।

इस दोहे में प्रधान रूप से तो चन्द्रमा पर उत्प्रेक्षा है। विरहिणी को चन्द्रमा ऐसा प्रतीत होता है मानो रीता सुधा-पात्र हो। उसकी सहायता के लिये श्लेष और समासोक्ति को ग्रहण किया गया है परन्तु वास्तव में वर्णन मुख्य है। रात्रि का उसके पीछे गणिका का चित्र झाँक रहा है। एक और उदाहरण लीजिए—

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल।

यहाँ भी सन्धि-समय का वर्णन प्रस्तुत है। इसके पीछे सखी को ठेल कर आगे बढ़ती हुई नायिका का चित्र है।

उक्ति में वैचित्र्य लाने की और भी विभिन्न शैलियाँ हैं जो प्रायः भाषा की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता पर अवलम्बित हैं। कुछ भावनाएं अथवा गुण कभी-कभी हमारे मन में इतने तीव्र हो उठते हैं कि हम उनकी अमूर्तता भूल जाते हैं और इसीलिए उनमें कर्तृत्व का आरोप कर देते हैं। इस प्रकार भाव तो तीव्र होता ही है, कथन में एक अद्भुत नवीनता आ जाती है। साकेत के भरत भ्रातृ-भावना के मूर्तिमान स्वरूप हैं, इसीलिए तो माण्डवी कहती है—

मेरे नाथ, जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती,
किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।

इसी प्रकार 'लज्जा ने घूँघट काढ़ा' में यह व्यञ्जित है कि सीता की लज्जा मूर्तिमन्त होगई और उसने स्वयं हाथ बढ़ाकर सीता का घूँघट काढ़ दिया।

२—भावनाओं में मानव-गुणों (अंगों) का आरोप कभी-कभी वहुत बढ़ जाता है और यह मूर्तिमत्ता कवि प्रभाव-वृद्धि के लिए सूक्ष्म भावनाओं में मानव-गुणों 'अंगों) का आरोप कर देती है। अंगरेजी में यह मानवीकरण एक अलङ्कार ही है—

श्रुति-पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
देख आप ही अरुण हुए हैं, उनके पाण्डु कपोल।

उक्त उदाहरण में पूर्व स्मृतियों को नारी रूप में देखा गया है। वे श्रुति पुट लेकर (उत्कण होकर) पट खोले (उत्सुक) खड़ी हुई हैं। उनके पाण्डु (विरह-कृश) कपोल आप ही आप एक साथ अरुण होने लगे हैं। यहाँ पूर्व स्मृति का कवि के मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह उसके सम्मुख मूर्तिमन्त होकर खड़ी हो गई। स्मृति में मुँह के रङ्गों का वदलना (पहिले पीला, फिर लाल होना) स्वाभाविक ही है। उसको कवि ने मूर्त आधार देकर प्रत्यक्ष करने का सफल प्रयत्न किया है। एक और चित्र लीजिए—

ये गगन-चुम्बित महा प्रासाद,
मौन साधे हैं खड़े सविषाद।
शिल्प-कौशल के सजीव प्रमाण,
शाप से किसके हुए पाषाण।
आ अड़े हैं मेटने को आधि,
आत्मचिन्तन-रत अचल ससमाधि,
किरण-चूड़ गवाक्ष लोचन मींच,
प्राण से ब्रह्माण्ड में निच खींच ?

व्यक्ति के स्थान पर गुण का ग्रहण—इसका विपरीत रूप भी है, जिसमें व्यक्ति के स्थान पर गुण का ग्रहण किया जाता है। यहाँ किसी व्यक्ति का कोई गुण इतना प्रधान हो जाता है

विस्मय क्या है क्या नहीं स्व-मातृ-तनय वे।

में ध्वनि का ही संकेत है। वाक् संघर्ष अथवा तर्क करते समय प्रायः व्यञ्जना का प्रयोग बड़ा सार्थक होता है। प्रत्येक कुशल वक्ता व्यंग्य का मास्टर होता है। इसीलिये लक्ष्मण-मेघनाद एवं राम-रावण युद्ध में शारीरिक युद्ध के साथ वाक् युद्ध भी हुआ था। उसमें व्यंग्य के दाँव-पेच अच्छे हुए हैं।

बैठा है क्यों छिपा अनोखे आयुध धारी।

इसी प्रकार राम भी रावण से कहते हैं—

'धन्य पुण्य जन धन्य शूरता तुझसे जन की।'

कभी कभी हम किसी बुरी बात को सीधे-साधे न कहकर भले शब्दों में कहते हैं।

पूर्ण करूँगा यज्ञ आज तेरी बलि देकर।

यहाँ लक्ष्मण मेघनाद से 'तुझे मार डालूँगा' न कहकर तेरी बलि देकर यज्ञ पूरा करूँगा ऐसे कहते हैं, उक्त सभी उद्धरणों में तो हम व्यञ्जना को ढूँढ़ निकालते हैं, परन्तु किसी किसी सीधी साधी उक्ति में एक अद्भुत वक्रता आ जाती है जिसके आधार का पता लगना सहज संभव नहीं होता। ऐसी उक्तियाँ काव्य की विभूति होती हैं, उनमें अपूर्व मर्म स्पर्शिता मिलती है:—

उड़ा ही दिया मन्थरा ने सुआ।

में यही गुण है। उर्मिला यह नहीं कहती कि मंथरा ने सभी सुख स्वप्नों पर पानी फेर दिया। उसका तो कहना है—

उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ।

जिसमें कथन में जादू का प्रभाव आ गया है। यह उक्ति सर्वथा स्वच्छ है, अलंकार का आवरण इस पर नहीं है। इसमें सुआ-

वरा मानकर लक्षणा का आधार माना जा सकता है, परन्तु सहृदयता विचारे कि क्या इस उक्ति का सौन्दर्य मुहावरे की संकीर्ण परिधि में ही सीमित किया जा सकता है? निस्संदेह इसमें मुहावरे से अधिक कुछ और भी है जो अनिर्वचनीय रहेगा।

किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली।

इसी का अलंकृत स्वरूप है। इस उद्धरण में शब्द-शक्ति का पूर्ण वैभव मिलेगा। बात साधारण सी है। तारों के न छिपने से रात का अवसान नहीं हो रहा। इसी को कवि बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करता है। उसका कहना है तारे कोक-शोक की रखवाली कर रहे हैं—मानों विधाता ने कोक को रात्रि भर वियोग पीड़ा सहने का दण्ड दिया हो और उसका निरीक्षण करने के लिए तारों को नियुक्त कर दिया हो। अथवा कोक-शोक भावुक जीवन की निधि है और तारे उसके संरक्षक। कथन का मार्मिक संकेत अपूर्व है जो लक्षणा व्यञ्जना के घेरे में नहीं आ सकता।

१—*भाव को समृद्ध करने की अन्य रीतियाँ*—अतिशयोक्ति भाववृद्धि में सहायक और भी बहुत सी रीतियाँ हैं जिनका साकेत में स्थान-स्थान पर सफल प्रयोग हुआ है। वैसे तो प्रायः सभी अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति रहती है पर कहीं-कहीं मुख्य चमत्कार अतिशयोक्ति का ही होता है। दूसरे को प्रभावित करने के लिए हम बात को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं, अथवा भावुकता के कारण कोई बात स्वयं हमारे मन में ही बड़ा विपुल आकार धारण कर लेती है। इस अलंकार का हिन्दी, संस्कृत और फारसी के रीति-साहित्य में बड़ा महत्व रहा है। उसके साथ बड़ी खिलवाड़ हुई है—बड़ी उड़ानें लीगई हैं। परन्तु वास्तव में मनोवैज्ञानिक आधार से च्युत हो जाने

के कारण उनमें प्रायः सरसता नहीं मिलती। साकेत में इसके कुछ उदाहरण बड़े सुन्दर हैं—

१—नाव चली या स्वयं पार ही आ गया।

२—बढ़ मानों कुछ दूर शून्य पथ भी मुड़ा।

दोनों उदाहरणों में कवि को जमीन आसमान के कुलाबे नहीं मिलाने पड़े—उसने प्रस्तुत में ही कल्पना द्वारा अतिशयोक्ति का चमत्कार उत्पन्न किया है। दूसरा अवतरण अतिशयोक्ति गर्भ उत्प्रेक्षा का सुन्दरतम उदाहरण है। राम के रथ के घोड़े इतने तेज जा रहे थे कि धूल आदि तो पीछे रह ही गई, स्वयं शून्य (अनन्त) पथ भी साथ न चल सका। सीधी सड़क पर भी कुछ देर के बाद ही मोटी दृष्टि ओझल हो जाती है। ऐसे प्रसंग में यह कल्पना कि सड़क भी उसके साथ न चल कर पीछे मुड़ आई कितनी सटीक, समयोचित और स्वाभाविक है।

२—प्रसंग गर्भत्व:—एक दूसरी युक्ति है प्रसंग गर्भत्व। इससे अर्थ गौरव की वृद्धि होती है और साहित्य के पण्डितों को एक विशेष आनन्द मिलता है। संसार के सभी पण्डित कवियों ने इस प्रणाली का उपयोग किया है, मिल्टन तो इसके लिए बदनाम है। 'गङ्गायाँ घोषः' साहित्य-शास्त्र के विद्यार्थियों का चिर-परिचित वाक्य है। लक्षणा व्यञ्जना का रूढ़ उदाहरण होने से एक प्रकार से यह ऐतिहासिक होगया है। कवि ने राम सीता की नाव के लिए इसका बड़ा कुशल व्यवहार किया है—

देखी नाव निहार लक्षणा व्यञ्जना
'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

इसमें मोटी अलंकारिक दृष्टि से चाहे दोष हो तो परन्तु प्रसंग में यह इतना फिट हुआ है कि कवि की अनोखी सूझ का

दाद दिये विना रहा नहीं जा सकता। कुछ और भी ऐसे ही प्रयोग हैं जिनमें न्यूनाधिक चमत्कार मिलता है—

'करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?'

को पढ़ते ही भवभूति, उत्तर रामचरित और उसका प्रसिद्ध कथन 'एकोरसःकरुण एव' पाठक के मस्तिष्क में उठते चले आते हैं।

अज्ञान भला जिसमें,
सोऽहं तो क्या स्वयं अहं भी कब है ?

उक्त सभी अवतरणों में प्रसङ्ग-गर्भत्व के द्वारा उक्ति का अर्थ गांभीर्य बढ़ता है, परन्तु एक-आध स्थान पर उसका प्रयोग किसी प्रकार की अर्थसिद्धि नहीं करता और साथ ही अत्यधिक गूढ़ भी है—

तो गज मुक्त कपित्थ तुल्य वह निष्फल होगा अपने आप।

कथन की शैली उक्ति में चमत्कार लाने की उक्तियाँ—यहाँ तक जिन प्रणालियों का विवेचन किया गया है उनके द्वारा उक्ति में एक प्रकार की आन्तरिक विचित्रता आती है। वे लगभग सभी भाव को सजाती हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी युक्तियाँ हैं जिनका सम्बन्ध उक्ति के अन्तस (अर्थ) से इतना नहीं है जितना बाह्य शैली से। उनके द्वारा उत्पन्न चमत्कार उक्ति का ही चमत्कार होता है—उनसे भाव में इतनी तीव्रता नहीं आती। संस्कृत साहित्य के विरोध, विषम, विशेषोक्ति, विभावना आदि और अंगरेजी के ऑक्सीमॉरन का नाम इन्हीं के अन्तर्गत आता है। साकेत में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं:—

वज्र कर हाय पतंग मरे क्या ?

में विरोध बड़ा सटीक बैठा है।

धन्य वह अनुराग निर्गत राग।

में भी चमत्कार का आधार विरोध है। उन्हीं से मिलता-जुलता एक और बड़ा सुन्दर प्रयोग है, जिसे हम स्पष्ट रूप से तो विरोध नहीं कह सकते, परन्तु उसका सम्बन्ध कुछ इसी से है।

उटज-अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन-सा बैठा है।

पुजारी तो दूसरों की पूजा करता है, परन्तु यहाँ स्वयं उसकी पूजा होने का संकेत है।

करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊं,
राई भर भी अनुताप न करने पाऊं,

में चमत्कार व्यतिरेक पर आश्रित है।

बैठी है तू पट्-पदी निज सरसिज में लीन,
सप्त-पदी देकर यहाँ बैठी मैं गति हीन।

इस उक्ति में विशेषोक्ति का चमत्कार श्लेष पर अवलम्बित है। उधर सप्त-पदी देकर भी गति-हीन बैठने में विशेषोक्ति फिर दुहरादी गई है।

हम अपनी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए बहुधा अवधारण की सहायता लिया करते हैं। उसके लिए हमें अपने कथन में भावनाओं को एक विशेष क्रम से रखना पड़ता है। कभी उनमें विरोध का आभास होता है, कभी तुलना या संतोलन का और प्रायः अन्तर का। इस युक्ति के द्वारा कथन में एक बल आ जाता है जिसका प्रभाव सुनने वाले पर सीधा पड़ता है। यह मनोविज्ञान के सहारे अपने आप ही हो जाता है। अंग्रेजी में इन युक्तियों का नामकरण भी कर दिया गया है—

१—राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तो मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

२—शङ्काएँ हैं जहाँ वहीं धीरों की मति है,
आशङ्काएँ जहाँ वहीं वीरों की गति है।

३—तुम्हारे हँसने में है फूल हमारे रोने में मोती।

ऊपर के तीनों उदाहरणों में किञ्चित विरोध के आधार पर शब्दों को तोल कर इस प्रकार रक्खा गया है कि वाक्य में एक विशेष शक्ति और चमत्कार आ गया है। पहिले अवतरण में विरोध और सन्तोलन दोनों का चमत्कार है, दूसरे में केवल सन्तोलन का और तीसरे में केवल एक अन्तर का।

इसी प्रकार कहीं-कहीं उक्ति में वक्रता लाने के लिए विरोध का प्रयोग एक विचित्र ढङ्ग से किया जाता है। साधारणतया देखने पर, जो बातें वाक्य में कही गई हैं उनमें विरोधाभास होगा—परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। इसलिए प्रतिपादित तथ्य का बल और भी बढ़ जाता है। अङ्गरेजी, संस्कृत, हिन्दी आदि सभी सम्पन्न साहित्यों में इस प्रकार की सूक्तियाँ मणियों की तरह जड़ी हुई मिलती हैं। प्रेमचन्द जी की शैली की यह विशेषता थी। साकेत में इस प्रकार की सूक्तियाँ अनेक हैं जिनमें शक्ति और अर्थ-गौरव दोनों पाए जाते हैं—

१—जीवन क्या है एक जूझना-मात्र जनों का
और मरण, वह नया जन्म है पुरातनों का।

२—जहाँ हाथ में लौह, वहाँ पैरों में सोना।

३—सुख क्या है बढ़कर दुःख सहन करना ही।

अँगरेजी में एक अलङ्कार है क्लाइमैक्स जिसका समानान्तर हमारे यहाँ 'सार' है। उसमें शब्दों या भावों को उतार-चढ़ाव के क्रम से रख कर उक्ति में विचित्रता अथवा शक्ति का समावेश किया जाता है :—

१—सैन्य-सर्प जो फणी उठाए फुङ्कारित थे,
सुन मानों शिव-मन्त्र, विनत, विस्मित, वारित थे।

२—झंप उठे हैं भीम, झुक, थक, हार।

पहिले सर्पों का विनत होना, फिर विस्मित और अन्त में वारित होना भावनाओं के क्रमिक विकास की ओर संकेत करता है। साधारणतया पहले हम विस्मित होते हैं फिर विनत। परन्तु जो मदान्ध और दुष्ट-प्रकृति होते हैं, वे पहले विनत होंगे तभी उनकी आँखें खुलेंगी और बाद में वे विस्मित होंगे।

अब थोड़ा विचार ध्वनन-शील शब्दों के प्रयोग पर और कर लिया जाय। प्रत्येक कुशल कवि की कृति में भाव के अनुकूल शब्द प्रायः आप से आप आ जाते हैं। ये शब्द प्रायः भाव को चित्रित करते हैं। परन्तु कुछ शब्द ऐसे होते है जिनमें भाव का चित्र नहीं ध्वनि रहती है। इनका अर्थ जानने से पूर्व ही प्रायः भाव व्यक्त हो जाता है। इन शब्दों को सुन कर श्रोता के कानों में कही हुई बात गूँज जाती है और इस प्रकार भाव प्रकाशन में प्रभविष्णुता आ जाती है। साकेत में प्रसङ्ग के अनुकूल भाषा का प्रयोग तो हुआ है परन्तु ध्वननशील शब्द अधिक नहीं मिलते। मैथिली बाबू को शब्दों की आत्मा और ध्वनि का वह सूक्ष्म परिज्ञान नहीं है जो कवि पन्त को है। फिर भी यथा स्थान भाषा में ध्वनि चित्रण के उदाहरण मिल जायँगे।

१—घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी !

में ऐसा सुनाई पड़ता है मानो प्रत्यक्ष ही भेरी बज रही हो। इसी प्रकार निम्नोद्धृत पद में निर्झर का नाद है:—

ओ निर्झर, झर-झर नाद सुना कर झड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ-सुलझ, बढ़-अड़ तू।
ओ उत्तरीय उड़, मोद-पयोद घुमड़ तू,
हम पर गिरि गद्गद् भाव, सदैव उमड़ तू।

पहली पंक्ति में पानी का झरना, दूसरी में रोड़ों में अड़ता हुआ बढ़ना, और अन्तिम में उसके एक साथ वृहत परिमाण में गिरने की ध्वनि है।

सखि, निरख नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।

यहाँ नदी का कलकल निनाद मुखर हो उठा है।

अभिव्यञ्जना के इस विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि कवि ने भाव प्रकाशन को अनेक चमत्कार-पूर्ण शैलियों को बड़ी सफलता से अपनाया है। ऊपर दिये हुये सभी उदाहरण उत्कृष्ट काव्य सामग्री की विभूति हैं, उनसे साकेत के काव्य-वैभव पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी घटिया (Cheap) उदाहरण बिल्कुल न हों यह बात नहीं है—

चन्द्रकान्त-मणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार
चन्द्रकान्त आवें यहाँ, जो सबके शृङ्गार!

या— अयोध्या के अजिर की व्योम जानो
उदित उसमें हुए सुर वैद्य मानो!

आदि भद्दे नमूने हैं।

[उ] भाषा

भाषा में दो गुण दृष्टव्य हैं—१—शुद्धि और २—शक्ति!

अनुकूल ही हैं। साकेत में मानस मग्न, श्लथ-शिखण्ड, विप्र-पंक्ति-विहीन, शफर-वारि-समान, शवरी-शरार्त जैसे समस्त पद भाषा की गठन को दृढ़ करते हैं। लचर प्रयोगों की भी कमी नहीं है—उपमोचितस्तनी, विविध-वृत्तान्ते समास बड़े भद्दे हैं। वे भाषा की प्रकृति के विरुद्ध हैं। कहीं-कहीं तद्भव शब्दों को तत्सम से जोड़ कर भाषा का अनर्थ किया गया है जैसे—'दिनरात-सन्धि' में कहीं अप्रचलित शब्दों को जोड़ा गया है, जैसे—'दोष-दूर-कारक' 'भूमि-भार हारक' में। इसके अतिरिक्त संस्कृत के कुछ विचित्र प्रयोग भी साकेत में मिलते हैं, 'अर्धचन्द्र'—इस जन (अयं जनः) आदि।

प्रान्तीयता का प्रभाव—संस्कृत के अतिरिक्त हमारे देश में और भी बहुत सी भाषाएँ हैं, उधर हिन्दी में भी अनेक प्रान्तिक बोलियाँ हैं। उनके शब्दों का ग्रहण अधिकतर आचार्यों की दृष्टि में वर्जित है। परन्तु शब्द की उपयुक्तता के आगे सभी नियम नत शिर रहते हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि सभी कवियों ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता को अपनाया है और सुन्दर प्रान्तीय शब्दों का यत्र-तत्र व्यवहार भी किया है! साकेत में भी भरके, झोंमना, छांटना, अकर, घाता, धड़ाम, लङ्घन आदि प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग मिलता है। वैसे तो इतने बड़े काव्य में यह शब्द बहुत कम हैं, और साधारणतया माधुर्य में अथवा प्रभाव-वृद्धि में सहायक भी होते हैं परन्तु फिर भी उनसे कहीं-कहीं भाषा की शुद्धता को बड़ा आघात पहुँचता है—

१—धाड़ मार कर वे बोलीं।
२—कह कर हाय धड़ाम गिरी
३—वत्स हम्बा कर उठे डिडकार
४—ठंडी न पड़ बनी रह तत्ती

आदि वाक्यों में शब्दों का चुनाव निस्सन्देह अनुपयुक्त है। कुछ क्रिया-रूप भी प्रान्तीय हैं। कीजो, दीजो, मानियो, जानियो, जाय आदि क्रियाओं में पण्डिताऊपन है, जो बड़ा भद्दा लगता है। हाँ, कुछ तद्भव शब्दों के चयन में कवि ने अपनी स्वाभाविक सुरुचि का परिचय दिया है—उनमें माधुर्य और भोलापन है। उदाहरण के लिए साकेत के विरछे, बिछोह आदि को लिया जा सकता है। ये शब्द अधिकतर कोमल गार्हस्थ्य-प्रसङ्गों में आए हैं। उर्दू का तो एकाध शब्द ही है, उसे भी नीचे का नुकता उड़ा कर अपना बना लिया है परन्तु है वास्तव में वह तुक का ही आग्रह।

व्याकरण—व्याकरण की दृष्टि से साकेत की भाषा में कोई व्यतिक्रम नहीं है। कवि को खड़ी बोली की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान है, दूसरे द्विवेदी जी के चरणों में दीक्षा लेकर व्याकरण की त्रुटि करना सम्भव नहीं था। अतः उसकी भाषा सर्वत्र व्याकरण सम्मत है—उसमें अन्वय-दोष नहीं मिलेगा! वाक्य पूरे हैं—

पूर्व पुण्य के क्षय होने तक पापी भी तो दुर्जय है,
सरला-अबला आर्या ही के लिए आज मुझको भय है।

कवि की वाक्य-रचना पर कुछ अंग्रेजी प्रभाव है! कथन के बीच में अमुक ने कहा लिखने की प्रणाली अँग्रेजी की है। साकेत के संवादों में यह शैली सर्वत्र अपनाई गई है। इससे नाटकीय गुण की वृद्धि होती है।

"तुम्हीं पार कर रहे आज किसको अहो"
सीता ने हँस कहा, "क्यों न देवर कहो!"

ऐसे प्रयोग हिन्दी में कम ही हैं। फिर भी इनका स्वागत होना चाहिये। व्याकरण की दृष्टि से—एक शब्द में—गुप्तजी गद्य और पद्य की भाषा में भेद नहीं करते!

उर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही।
तब कहा सौमित्र ने कि यही सही।
तुम रहो मेरी हृदय देवी सदा,
मैं तुम्हारा हूँ प्रणय-सेवी सदा।

उपर्युक्त अवतरण में देवी और सेवी का प्रयोग द्रष्टव्य है। इसी प्रकार:—

हँस कर बोली जनक-सुता सस्नेह यों,
"श्याम गौर तुम एक प्राण दो देह ज्यों।"
रामानुज ने कहा कि "भाभी क्यों नहीं,
सरस्वती सी प्रकट जहाँ तुम हो रहीं"
"देवर मेरी सरस्वती अब है कहाँ
संगम शोभा देख निमग्न हुई यहाँ।"

में 'सरस्वती' शब्द का प्रयोग भाषा की शक्ति का द्योतक है। कवि शब्दों को पहले से सोच कर नहीं रखता, वह तो प्रसङ्गागत शब्दों को ही यथेच्छ रूप से ढाल कर लेता है।

भाषा की प्रौढ़ता और शक्ति का एक और महत्वपूर्ण अङ्ग है—थोड़े में बहुत कहने की कला। यह समास-पद्धति (Concentration) मुक्तक कवियों में जिन्होंने छोटे छन्दों को अपनाया है सरलता से मिल जाती है। विहारी का अर्थ-गौरव तो इसी पर निर्भर है। उनके दोहों में जो नए-नए अर्थ निकलते आते हैं, उसका श्रेय इसी पद्धति को है, और इसकी सफलता भाषाधिकार पर आश्रित है। साकेत प्रबन्ध-काव्य है, अतः उसमें इस प्रकार की विशेषता ढूँढना समीचीन न होगा, परन्तु नवम-सर्ग में भाषा की प्रौढ़ता इतनी बढ़ गई है कि अर्थ-गौरव के साथ समास-पद्धति का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है। उस सर्ग में दोहे सभी अर्थपूर्ण कसे और समस्त हैं।

तारक चिन्हदुकूलिनी पी-पी कर मधु-पात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ, रिक्त सुधाधर-पात्र।

अथवा—प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार,
मृत्यु-दण्ड उन तात को, राज्य तुझे धिक्कार!

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि का भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व है, वह उसको जिस तरह चाहे प्रयुक्त कर सकता है!

पालिश की कमी और तुक का आग्रह : उनका परिणाम—शक्ति उसमें है इसे कौन अस्वीकृत कर सकता है? परन्तु यह भी स्वीकृत सत्य है कि लचर भाषा के उदाहरण साकेत के बराबर अन्यत्र मिलना कठिन है। इसका कारण है पॉलिश की कमी। गुप्तजी अन्य कलाकार कवियों की भाँति पॉलिश में विश्वास नहीं करते। उनके वाक्यों में पन्तजी की सी काट-छाँट और शब्द-चयन नहीं है, न महादेवी की-सी स्वाभाविक मधु-मिश्री। कवि के मन में जो पद एक बार आ गया है उसे उसने ज्यों का त्यों रख दिया है—उस पर विचार कदाचित् ही किया हो—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ,
क्योंकि उसके रंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।

उक्त उद्धरण में 'यद्यपि', 'किन्तु', 'समझो', 'क्योंकि' आदि शब्द कविता की दृष्टि से निरर्थक हैं—उनसे भाषा की कसावट को क्षति पहुँचती है—

१—सीता से थामी जाकर।

२—प्रलय घटिका प्रकटता पा रही थी।

३—बोले वे कि "रहो भ्रात:,
और सुनो तुम हे मात: ।

४—लेकर उच्च हृदय इतना,
नहीं हिमालय भी जितना ।

ऊपर के पदों में रेखाङ्कित प्रयोग काव्य के सर्वथा अनुपयुक्त हैं । 'थामा जाना', 'प्रकटता पाना' आदि प्रयोग भाषा की असमर्थता के सूचक हैं—तीसरा और चौथा उद्धरण भर्ती का है । इसका कारण भी ढूँढ़ने पर सरलता से मिल जायगा । वह है तुक का आग्रह । कवि को तुक से न जाने क्यों इतना प्रेम है कि वह उसके लिए शब्द और अर्थ दोनों का बलिदान भी कर देता है । उसके वशीभूत होकर कवि स्थान-स्थान पर अपने ऊँचे स्टैन्डड से गिर गया है । साकेत जैसे काव्य में उपभोचितस्तना, तत्ता, रत्ती, लक्खी, मल्ली, लल्ली आदि का प्रयोग तुक की ही कृपा का फल है । वास्तव में एक महाकवि को इस प्रकार का बचपन करते देख पाठक को बड़ा क्षोभ होता है । सौभाग्यवश बाद मे यह व्यसन छूट गया है, इसीलिए यशोधरा, द्वापर और सबसे अधिक सिद्धराज में भाषा का लचरपन भी बहुत कम हो गया है ।

इन दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रित परिणाम यह होता है कि गुप्तजी की भाषा में खड़ी बोली की खड़खड़ाहट काफी मिलती है—कहीं-कहीं तो वाक्य सुपाठ्य भी नहीं हैं ।

१—सुश्रू-सुश्रूषिणी अन्त में परिदर्शन कर आती थी ।

२— तुझ पर ऊँचे-ऊँचे झाड़,
तने पत्रमय छत्र पहाड़,
क्या अपूर्व है तेरी आड़ ।

उधर पॉलिश का विचार न रखने के कारण ही साकेत में कुछ बड़े भद्दे मुहावरे भी मिलेंगे। साकेत में मुहावरों और कहावतों की प्राय: कमी है। जो एकाध हैं, वे न मधुर हैं और न अर्थ गर्भित।

१—कि आए खेत पर ही देव ओले।

२—वहाँ परिणाम में पत्थर पड़े क्यों ?

३—खाने पर सखी जिसके गुड़-गोबर सा लगे स्वयं ही जी से।

माधुर्य—परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि साकेत की भाषा में सौन्दर्य एवं माधुर्य का अभाव है। कवि ने यद्यपि प्रयत्न नहीं किया किन्तु भाषा उसकी अनुवर्तिनी है, अत: अनेक स्थानों पर उसकी माधुरी अद्भुत है—

पाकर विशाल कुच-भार एड़ियाँ धंसती,
तब नख-ज्योति-मिस मृदुल अँगुलियाँ हँसती।
क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते,
पद पद्मों में मंजीर-मराल मचलते !
रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।

साथ ही भाषा की स्वच्छता भी साकेत में यत्र-तत्र दर्शनीय है:—

कलिकावलि फूटने लगी,
अलि आवली उड़ टूटने लगी,
नभ की मसि छूटने लगी,
हरियाली हिम लूटने लगी,
विहगावलि बोलने लगी,
यह प्राची पट खोलने लगी.

अटवी हिल डोलने लगी,
सरसी सौरभ घोलने लगी।

ऊपर के अवतरण में शब्दावली स्फीत है। उसमें संकुलता का अभाव होने के कारण स्वच्छता है। शब्द एक दूसरे से पृथक असंयुक्त हैं, परन्तु उनका क्रम बड़ा सुन्दर है। ये मानो एक दूसरे से पग मिला कर बढ़ रहे हों।

पात्र एवं प्रसङ्ग की अनुकूलता—इसके अतिरिक्त साकेत की भाषा सर्वत्र प्रसङ्गानुकूल है, उसका स्वरूप भाव और पात्र के अनुरूप ही है। पात्र तो प्रायः एक ही श्रेणी के होने के कारण उनकी भाषा में कोई बड़ा अन्तर नहीं है—मन्थरा की भाषा में भी कोई ज़ातिगत भेद नहीं है। फिर भी स्वभाव-गत वैषम्य सर्वत्र मिलेगा। लक्ष्मण की वाणी में कुछ गर्मी और औद्धत्य है, उर्मिला की भाषा में शील का मार्दव एवं चञ्चलता मिलेगी। राम के वाक्य गम्भीर और दृढ़ होंगे, सीता के एकान्त-सरल, भोले। कैकेयी के शब्दों में उच्छ्वास सर्वत्र मिलेगा। प्रसङ्ग के अनुसार भी भाषा का रूप बदलता रहता है। चतुर्थ सर्ग की भाषा में भोली चञ्चलता मिलती है, वह मधुर गृहस्थ चित्रों के अनुकूल है। नवम सर्ग की पदावली में (स्मृति प्रसङ्गों को छोड़) प्रायः श्रांति, स्थिरता और कराह है, और अन्तिम दोनों सर्गों में भाषा का प्रवाह प्रसङ्ग के अनुकूल ही सवेग और दुर्धर हो गया है। वहाँ उसमें अद्भुत ओज और गति है! निम्नाङ्कित तीन अवतरणों की तुलना से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा।

१—"माँ क्या लाऊँ।" कह कह कर
पूछ रही थीं रह रह कर!—(चतुर्थ सर्ग)

२—निहार सखि सारिका कुछ कहे विना शान्त-सी!
दिये श्रवण है यहीं, इधर मैं हुई भ्रान्त-सी!

इसे पिशुन जान तू, सुन सुभाषिणी है बनी—
'धरो !' खगि, किसे धरूँ ? धृति लिये गये हैं धनी ! (नवमसर्ग)

३—दल-बादल भिड़ गए धरा धँस चली धमक से,
भड़क उठा नय कड़क तड़क से, चमक-दमक से। (द्वादश सर्ग)

पहले में लघु अक्षरों की सरल-चटुल गति है जो चांचल्य और भोलेपन की द्योतक है, दूसरे में वाक्यों में विराम है जिनमें भावना की थकान की सूचना मिलती है, तीसरा शब्दों की लपक-झपक से स्पन्दित है!

लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता:—साहित्य के अन्य तत्वों की भाँति हमारी भाषा पर भी अँग्रेजी का प्रभाव पड़ा है। अँगरेजी भाषा की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता अत्यन्त विकसित है। अँग्रेजी काव्य के अनेक सफल प्रयोग भाषा की इन्हीं शक्तियों के आश्रित हैं। हिन्दी की भी लाक्षणिक शक्ति का विकास विवर्धन गत वर्षों में काफी हुआ है, उसमें नवीन मूर्तिमत्ता आ गई है जिससे प्रयोगों में नवीन वक्रता और नवीन चमत्कार का समावेश होने लगा है। गुप्तजी की प्रारम्भिक कृतियों में तो अधिकतर भाषा की प्राचीन रीति-नीति का ही अनुसरण है, परन्तु साकेत में आकर ये शक्तियाँ समर्थ हो गई हैं। इसका विवेचन अभिव्यञ्जना-कौशल की व्याख्या के साथ ही हो चुका है। उससे स्पष्ट है कि साकेत की भाषा में लाक्षणिक-समृद्धि और मूर्तिमत्ता प्रचुर मात्रा में मिलती है। नवम सर्ग ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

अन्त में भाषा को समग्र रूप में ग्रहण करते हुये हम देखते हैं कि साकेत की भाषा में खड़ी बोली का अत्यन्त शिष्ट और प्रौढ़ स्वरूप मिलता है। गुप्तजी ने ही द्विवेदीय भाषा को सबसे पूर्ण काव्योचित रूप प्रदान किया। साकेत में आकर उसमें

शक्ति और अलंकृति भी आ गई। शब्दालङ्कार स्वतः ही भाषा की वसनसज्जा में रत हैं—अनुप्रास की रुनझुन, श्लेष का चमत्कार और पुनरुक्ति का वैभव उसमें कहीं भी मिल जायगा। परन्तु अलंकृत और सांस्कृतिक होने पर भी उसमें खड़ी बोली का अपनापन नष्ट नहीं होने पाया। प्रिय-प्रवास की भाषा गद्य-भाषा से एकदम दूर हो गई है। पल्लव, ज्योत्स्ना अथवा युगान्त की भाषा साधारण लोक-भाषा से सर्वथा विमुख है। साकेत की भाषा पर ये दोनों जुर्म नहीं लगाये जा सकते—यद्यपि न उसमें प्रियप्रवास की हिण्डोलाकार गति है और न पल्लव या युगान्त की पॉलिश।

छन्द योजना

साकेत सर्ग-बद्ध प्रबन्ध काव्य है। साहित्य-शास्त्र के नियमानुसार उसके प्रत्येक सर्ग में नवीन छन्द का प्रयोग किया गया है।

छन्द कविता का नैसर्गिक परिधान है—वह साकेत की सीता के दिव्य दुकूल की भाँति कविता की देह के साथ ही उत्पन्न हुआ है। संस्कृत के महाकाव्यों में इस छन्द वैचित्र्य का प्रायः सर्वत्र ही उपयोग किया गया है परन्तु कालिदास सदृश कुशल कलाकारों को छोड़ अन्य कवियों ने केवल वैचित्र्य का ही ध्यान रक्खा है। उनके छन्दों में प्रसंग (भाव और पात्र) की अनुकूलता कदाचित ही मिले। साकेत की छन्द योजना में यह गुण स्पष्ट लक्षित होता है। उसमें कवि ने लगभग सभी सुन्दर छन्दों का प्रयोग किया है परन्तु उसका प्रयोजन केवल नवीनता अथवा विचित्रता मात्र से ही सिद्ध नहीं हो जाता है। उनका चयन प्रसङ्ग के अनुरूप ही किया गया है। पहिले सर्ग का विषय है लक्ष्मण-उर्मिला का प्रणय-परिहास। अतः उसके लिये कवि

ने शृङ्गार का खास छन्द 'पीयूष-वर्षण' चुना है। कवि पन्त ने 'ग्रन्थि' में इसी को अतुकान्त रूप में प्रयुक्त किया है। साकेत में वह तुकान्त है और उसके अन्त में गुरु वर्ण अनिवार्य रूप से रक्खा गया है। यहाँ शब्द चञ्चलता से आगे बढ़ कर अन्त में गुरु पर जाकर एक झोल खा जाते हैं जिससे सारी पंक्ति तरङ्गित हो जाती है। इस छन्द में परिहासोचित चञ्चलता है और उधर गीत का आभास भी है क्योंकि पहले सर्ग में कवि कथा को अग्रसर करने के लिये प्रयत्नशील है। सर्ग में कैकेयी और मन्थरा की बातों से कैकेयी के खून की गति तेज हो जाती है उसके मन में अनेक भाव क्षण भर में दौड़ जाते हैं। ऐसी मनोदशा का चित्रण करने के लिये १६ मात्राओं का छोटा शृङ्गार छन्द सर्वथा समर्थ है। इस छन्द की यह विशेषता है कि जल्दी पढ़ने से इसकी दूसरी पंक्ति लौट कर पहली से मिल जाती है—इसलिये भावनाओं का तारतम्य इसके द्वारा अच्छी तरह प्रगट हो सकता है:—

सामने से हट अधिक न बोल
द्विजिह्वे रस में विष मत घोल!

यहाँ घोल पीछे घूम कर बोल से मिल जाता है। तीसरे सर्ग में दशरथ का विलाप है। उर्दू की यह बहर (हिन्दी का सुमेरु छन्द) कराहने के काम में बहुत आई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दशरथ-विलाप इसी में लिखा था। चौथे सर्ग का मानव (हाकलि) छन्द उसकी भावा की भाँति भोले गार्हस्थ्य चित्रों के अङ्कन के लिये सर्वथा उपयुक्त है ही। कौशल्या और सीता दोनों साकेत के सबसे सरल चरित्र हैं और इस सर्ग में उन्हीं की प्रधानता है, इसलिये कवि ने चौदह मात्राओं का यह चपल छन्द चुना है—

कभी आरती धूप कभी,
सजती थी सामान कभी।

पञ्चम सर्ग में आकर कथा की गति विलास-मंथर होगई है, अतः छन्द भी उसी के अनुकूल है। इस छन्द में प्रत्येक दूसरी पंक्ति पर विराम मिलेगा:—

गोरे देवर, श्याम उन्हीं के जेष्ठ हैं।
वैदेही यह सरल भाव से कह गईं,
फिर भी वे कुछ सरल हँसी हँस रह गईं।

उक्त उद्धरण में पंक्तियाँ प्रायः अपने में पूर्ण हैं, वे न आगे को बढ़ती हैं और न पीछे हटती हैं। छठे सर्ग में दशरथ की मृत्यु का वर्णन है—कथा की गति उच्छ्वसित हो गई है अतः फिर कवि ने १६ मात्राओं का 'पदपादाकुलक' छन्द प्रयुक्त किया है। सातवें में भरत का शोक और ग्लानि है—कथा स्थिर है, भरत के स्वभाव के अनुसार ही उसमें लपक-झपक नहीं है—इसीलिये ऐसे छन्द का प्रयोग है, जो प्रायः दूसरी पंक्ति पर रुक जाता है! यह छन्द कवि का अपना छन्द है।

आठवें सर्ग में फिर कैकेयी रङ्गमञ्च पर आ जाती है, बस छन्द भी सवेग है, उसके शब्द और पंक्तियाँ एक दूसरे को धकेलते हुये आगे बढ़ते हैं। इस सर्ग में प्रारम्भ में सीता का चित्र है, बाद में कैकेयी का, दोनों चित्रों में एक ही छन्द प्रयुक्त है परन्तु सूक्ष्म रीति से देखने पर उन दोनों की गति में अन्तर मिल जायगा। सीता का चित्र सरल और सुखी है उसमें कुछ चञ्चलता भी है—अतः छन्द में भी लघु अक्षर अपेक्षाकृत अधिक होने से लाघव आ गया है। कैकेयी का चित्र आग उगल रहा है—उसके लिये छन्द में विस्तार है—शब्दों में दृढ़ता है! नवम सर्ग में विरह का नग्न भाव-चित्र है। भावना सर्वथा

अस्त-व्यस्त है, इसीलिए विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। छंद भी सभी गति-हीन हैं। दूसरे भाव की शून्यता के कारण आर्या को भी प्रधानता उचित ही दी गई है। दशम सर्ग में भी विरह गीत हैं परन्तु पूर्व स्मृतियों के कारण उसमें कुछ रंग आ गया है—कवि ने इस सर्ग में भवभूति को छोड़ कालिदास की स्तुति इसलिए की है। छन्द भी कालिदास का प्रिय छन्द वियोगिनी है—अज-विलाप ने इसे विप्रलम्भ के लिए अमर कर दिया है। द्वादश के नायक (प्रधान पात्र) हैं हनुमान। उनका कार्य है युद्ध का ऐश्वर्य-पूर्ण वर्णन ! इसलिए यहाँ वीर छन्द, (जगनिक की कृपा से अतिशयोक्ति जिसका स्वाभाविक अंग बन गई है) से अधिक और कौन सा छन्द फिट होता। अंतिम सर्ग में युद्ध का वर्णन है, उधर राम को लौटने की जल्दी है, अतएव वहाँ रोला का प्रभाव वहा है ! इस प्रकार एक साधारण दृष्टिपात करने पर ही हम कवि के इस कौशल को पहिचान सकते हैं।

महाकाव्य की रूढ़ि के अनुसार प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदल गया है ! अन्त में प्रायः दो अथवा दो से अधिक भिन्न छन्द हैं—ये सभी छन्द सर्ग को समाप्त करने के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं—इनसे एक से उपाख्यान का अन्त होता है—दूसरे से आगे की ओर संकेत। उदाहरण के लिए पहिले सर्ग में—

चूमता था भूमितल को अर्ध विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बनकर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।

पर सीन ड्रॉप होता है—दूसरे छन्द में आगे का संकेत है—

इसके आगे ? विदा विशेष;
हुये दम्पती फिर अनिमेष।

उत्मूलन की ही नहीं। इसलिए साकेत में हमें साम्यवाद और राजतन्त्र के बीच सामञ्जस्य मिलता है। राम-राज्य की स्थापना ही, जिसमें—

> निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
> सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।

और जिसका आधार लोक-सेवा-प्रीति पर स्थिर हो, हमारी राजनीति विशृङ्खलताओं का समाधान है। समाज-नीति में कवि ने पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय किया है। समाज में दो विरोधी धारायें हैं—एक रूढ़ि प्रिय प्राच्य आदर्शों के उपासकों की, दूसरी क्रान्तिकारी पाश्चात्य आदर्शों के प्रेमियों की। एक में जीवन से बच कर चलने का असफल प्रयत्न है, दूसरे में जीवन में घुस कर उसी का हो रहने की झूठी वासना। कवि ने प्राच्य आदर्शों के ऊपर जमी हुई मलिनता को स्वच्छ कर उनका नवीन संस्कार किया और जीवन की मधुरता का धर्म (नीति) से सम्बन्ध कर, समाज में एक मर्यादा स्थापित करने की चेष्टा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समन्वय प्रवृत्ति को तुलसी ने 'मानस' के धार्मिक क्षेत्र में अपनाया था, आज उसी को गुप्तजी ने साकेत के भौतिक जीवन क्षेत्र में प्रयुक्त किया है। दोनों में अपने कर्तव्य की चेतना है और यही चेतना दोनों काव्यों की शक्ति और दुर्बलता है। गुप्तजी की बौद्धिक चेतना तुलसी से दृढ़ है इसीलिये उनमें भक्ति की आर्द्रता नहीं आ सकी, परन्तु इससे उनकी सहिष्णुता अवश्य बढ़ गई है। तुलसी राम के विरोधियों के प्रति एक दम असहिष्णु हैं, परन्तु गुप्तजी को उनसे कोई वैर नहीं। साकेत की कैकेयी, मेघनाद और रावण तीनों इसके साक्षी हैं। मानव को मानव के रूप में

समझना इस युग की विशेषता है। उसको साकेत में जिस आग्रह के साथ ग्रहण किया गया है, उस आग्रह के साथ मानस में नहीं। परन्तु मैथिलीशरण ने मानस का प्रतिद्वन्द्वी ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न कभी नहीं किया। उन्होंने तो तुलसी की वन्दना करते हुए स्पष्ट कहा है:—

तुलसी यह दास कृतार्थ तभी,
मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पात्र रहे,
जो निज मानस-कवि कथा कहे।

फिर भला प्रतिद्वन्द्व कैसा ?

रामकाव्य के अन्तर्गत रामचन्द्रिका की गणना होती है परन्तु न वह रामकाव्य है और न जीवन-काव्य ! उसमें तो आचार्य केशव ने रामायण का आधार लेकर साहित्य-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। इस युग में आकर रामचरित चिन्तामणि, रामचरित चन्द्रोदय, एवं कौशल-किशोर तीन महाकाव्यों की सृष्टि हुई। तीनों में महाकाव्य के लक्षण वर्त्तमान होने पर भी काव्य की परिक्षीणता है। पहले में नैतिक दृष्टिकोण से रामचरित का वर्णन है परन्तु मानव मनोविज्ञान का आधार न होने से इस ग्रंथ का विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं रह गया। जोतिषीजी का काव्य रामचन्द्रिका का आधुनिक स्वरूप है। कौशल किशोर में कवि ने भले ही 'रामायण का आधुनिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया है', परन्तु उसमें जीवन को समग्ररूप में ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं है ! उसमें राम-चरित्र के उस स्वरूप का तो स्पर्श भी नहीं है ! जिसके कारण वे राम हैं। अतः रामकाव्य के केवल दो ही स्तम्भ हैं मानस और साकेत !

जीवन काव्य अब रह कितने जाते हैं। इस युग में प्रिय-

उत्मूलन की ही नहीं। इसलिए साकेत में हमें साम्यवाद और राजतन्त्र के बीच सामञ्जस्य मिलता है। राम-राज्य की स्थापना ही, जिसमें—

> निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
> सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।

और जिसका आधार लोक-सेवा-प्रीति पर स्थिर हो, हमारी राजनीति विशृङ्खलताओं का समाधान है। समाज-नीति में कवि ने पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय किया है। समाज में दो विरोधी धारायें हैं—एक रूढ़ि प्रिय प्राच्य आदर्शों के उपासकों की, दूसरी क्रान्तिकारी पाश्चात्य आदर्शों के प्रेमियों की। एक में जीवन से बच कर चलने का असफल प्रयत्न है, दूसरे में जीवन में घुस कर उसी का हो रहने की झूठी वासना। कवि ने प्राच्य आदर्शों के ऊपर जमी हुई मलिनता को स्वच्छ कर उनका नवीन संस्कार किया और जीवन की मधुरता का धर्म (नीति) से सम्बन्ध कर, समाज में एक मर्यादा स्थापित करने की चेष्टा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समन्वय प्रवृत्ति को तुलसी ने 'मानस' के धार्मिक क्षेत्र में अपनाया था, आज उसी को गुप्तजी ने साकेत के भौतिक जीवन क्षेत्र में प्रयुक्त किया है। दोनों में अपने कर्तव्य की चेतना है और यही चेतना दोनों काव्यों की शक्ति और दुर्बलता है। गुप्तजी की बौद्धिक चेतना तुलसी से दृढ़ है इसीलिये उनमें भक्ति की आर्द्रता नहीं आ सकी, परन्तु इससे उनकी सहिष्णुता अवश्य बढ़ गई है। तुलसी राम के विरोधियों के प्रति एक दम असहिष्णु हैं, परन्तु गुप्तजी को उनसे कोई वैर नहीं। साकेत की कैकेयी, मेघनाद और रावण तीनों इसके साक्षी हैं। मानव को मानव के रूप में

समझना इस युग की विशेषता है। उसको साकेत में जिस आग्रह के साथ ग्रहण किया गया है, उस आग्रह के साथ मानस में नहीं। परन्तु मैथिलीशरण ने मानस का प्रतिद्वन्द्वी ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न कभी नहीं किया। उन्होंने तो तुलसी की वन्दना करते हुए स्पष्ट कहा है:—

तुलसी यह दास कृतार्थ तभी,
मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पात्र रहे,
जो निज मानस-कवि कथा कहे।

फिर भला प्रतिद्वन्द्व कैसा ?

रामकाव्य के अन्तर्गत रामचन्द्रिका की गणना होती है परन्तु न वह रामकाव्य है और न जीवन-काव्य! उसमें तो आचार्य केशव ने रामायण का आधार लेकर साहित्य-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। इस युग में आकर रामचरित चिन्तामणि, रामचरित चन्द्रोदय, एवं कौशल-किशोर तीन महाकाव्यों की सृष्टि हुई। तीनों में महाकाव्य के लक्षण वर्त्तमान होने पर भी काव्य की परिक्षीणता है। पहले में नैतिक दृष्टिकोण से रामचरित का वर्णन है परन्तु मानव मनोविज्ञान का आधार न होने से इस ग्रंथ का विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं रह गया। तोतिषीजी का काव्य रामचन्द्रिका का आधुनिक स्वरूप है॥ कौशल किशोर में कवि ने भले ही 'रामायण का आधुनिक ष्टिकोण से अध्ययन किया है', परन्तु उसमें जीवन को समग्र-प में ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं है! उसमें राम-चरित्र के न स्वरूप का तो स्पर्श भी नहीं है! जिसके कारण वे राम हैं। तः रामकाव्य के केवल दो ही स्तम्भ हैं मानस और साकेत!

जीवन काव्य अब रह कितने जाते हैं।

'प्रवास और कामायनी ये दो जीवन-काव्य साकेत की समकक्षता के अधिकारी हैं। प्रिय-प्रवास और साकेत की साहित्यिक चेतना का आधार बहुत कुछ मिलता-जुलता है। प्रिय-प्रवास में कृष्ण के चरित्र को नवीन रूप से ग्रहण किया है। उनके व्यक्तित्व में लोक-संग्रही भावनाओं का समावेश हुआ है—और उनके कृत्यों की बुद्धि परक व्याख्या। उसमें भी जीवन को स्वार्थ से उठा कर परमार्थ की ओर ले जाने का आग्रह है। इसके अतिरिक्त दोनों की कविता में विरह की पीड़ा का प्राधान्य है। राधा और उर्मिला में बहुत साम्य है। सिद्धान्त की दृष्टि से प्रिय-प्रवास का आदर्श ऊँचा है और काव्य की दृष्टि से उसके प्रवाह में अधिक वेग और ओज है। उधर कामायनी की कथावस्तु पौराणिक न होकर तात्विक (elemental) है। उसमें सृष्टि-तत्व का विवेचन है। अतः उसका बैक-ग्राउण्ड साकेत की अपेक्षा व्यापक और विराट है। उसमें महाकाव्य के परिधि-विस्तार (epic dimensions) का अद्भुत समावेश है और मनस्तत्व की अपूर्व व्याख्या। इस दृष्टि से साकेत उसके समकक्ष हलका ठहरता है! परन्तु मानवत्व-मानव के पारस्परिक सम्बन्ध संसर्गों का व्याख्यान साकेत की अक्षय-विभूति है जिसके सम्मुख प्रिय-प्रवास कहीं कहीं नीति-ग्रंथ सा प्रतीत होने लगता है और कामायनी मनोविज्ञान की ट्रीटाइज। उन दोनों की अपेक्षा साकेत हमारे निकट है। उसमें हमारे सुख-दुःख की कहानी अधिक स्पष्ट है। साकेत स्वरूप से जीवन काव्य है। उसमें भारतीय जीवन को ज्ञान के व्यापार के रूप में देखा है। भारतीय जीवन आज का या पहले का? यह प्रश्न किया जा सकता है। परन्तु इस प्रश्न से जीवन की एकता टूट जाती है। भारतीय जीवन आज और पहिले के अन्तर्विभागों में बँट कर अखण्ड नहीं रहता। हमारा आज पूर्व का ही प्रति-